निबन्ध-पूर्णिमा

सम्पादक

स्वर्गीय डॉ० व्रजकिशोर मिश्र,

एम्० ए० ; पी-एच्० डी०,

हिन्दी-विभाग,

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रकाशन केन्द्र, न्यु बिल्डिंग्स, अमीनाबाद, लखनऊ

● प्रकाशक :
प्रकाशन केन्द्र
न्यु बिल्डिंग्स, अमीनाबाद,
लखनऊ

● संस्करण :
चतुर्थ संस्करण, १९६८

● मूल्य :
तीन रुपया

मुद्रक :
बीना प्रिंटिंग प्रेस,
पीलीकोठी, कीटगंज,
इलाहाबाद

विषय-सूची

परिचय

भाषा भावो की अनुगामिनी होती है। राग-विराग की विविध परिस्थितियो मे पड कर हमारे मन मे विभिन्न प्रकार की सूक्ष्म अनुभूतियाँ जाग्रत होती है। मन उन्हे यथारूप अभिव्यक्त करने के लिए आतुर हो उठता है। यह कार्य भाषा के द्वारा सम्पन्न होता है। वाणी और इगित की सहायता से हम अपनी अनुभूतियो को अधिक से अधिक स्पष्टता के साथ व्यजित करना चाहते है। भाषा जितनी पूर्ण, उपयुक्त शब्दो से युक्त होती है, व्यजना उतनी ही सफल और सशक्त होती है। कवि, लेखक, वक्ता, चित्रकार, सगीतकार सभी की अपनी भाषा है और उस भाषा का मार्मिक और प्रभावशाली प्रयोग करने में ही कृतिकार अथवा कलाकार की सफलता है। जो रचनाकार जितने ही थोडे तथा सगठित रूप में अपने भावो को व्यक्त कर सकता है, वह उतना ही सफल समझा जाता है। इसी से कहा गया है "गद्य कवीना निकष वदन्ति"—गद्य कवियो (रचनाकारो) की कसौटी है।

हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में गद्य रचना अपेक्षाकृत नवीन है। आरम्भ से लगाकर १९वी शताब्दी ईस्वी के मध्य तक, प्राय: एक हजार वर्ष, पद्य रचना की ही प्रधानता रही। अग्रेजो के भारत में आने के साथ ही भारतीय जीवन मे नवीन दृष्टि का उन्मेष हुआ। भावुकता के स्थान पर विचारात्मकता का स्थान प्रमुख पडने लगा। रेल, तार, प्रेस आदि की स्थापना हो जाने से विचारो के आदान-प्रदान तथा प्रसार मे सरलता हुई। शिक्षा-विधि मे परिवर्तन हुआ। गद्य-रचना अनिवार्य हो उठी। लोक-कल्याण के इच्छुक लेखक अपने देश, समाज, धर्म आदि के पुनर्गठन मे सलग्न हुए। पत्र-पत्रिकाओ का प्रकाशन सरल हो गया था, उनके माध्यम से विविध-विषयो पर विचार-प्रदर्शन होने लगा।

गद्य-काल के आरम्भ के साथ ही साथ खडी बोली का विकास भी आरम्भ

हुआ। इसके पूर्व गद्य का स्वरूप अत्यन्त अस्तव्यस्त तथा विरल था। ब्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी रूपो में उसके दर्शन यत्र-तत्र हो जाते थे। पद्य की टीका करने के लिए सकेतात्मक रूप मे उसका प्रयोग प्रधानतः होता था। खडी बोली का स्वरूप तब तक अनिश्चित था। मुसलमानो के इस देश मे आने पर उन्हे एक सामान्य भाषा की आवश्यकता पडी। उनकी छावनियो के सैनिक अपने विचारो का आदान-प्रदान अरबी-फारसी के द्वारा यहाँ नही कर सकते थे अतः छावनी वालो की एक भाषा बनी जिसका नामकरण लश्कर (उर्दू) के आधार पर हुआ। यह भाषा दिल्ली और मेरठ के आस-पास बोली जाने वाली लोक भाषा के आधार पर बनी। वहाँ यह अपने मूलरूप मे अब भी विद्यमान है। अरबी, फारसी के शब्दो का मिश्रण करके मुसलमानो ने अपने लिए एक काम चलाऊ भाषा का निर्माण कर लिया। यह उर्दू हुई। अग्रेजो ने भारतवर्ष मे आकर यद्यपि सस्कृत शब्दो से युक्त खडी बोली के 'हिन्दी' रूप को, उसके प्रभाव को पहचाना, तथापि नीतिवश उन्होने फारसी और उर्दू को प्रश्रय दिया। राजकार्य मे यही भाषाएँ प्रधान हुईं।

सन् १८०० ई० से खड़ी बोली मे गद्य-ग्रथो की रचना होने लगी। मुन्शी सदासुख लाल ने 'सुखसागर' के नाम से श्री मद्भागवत का अनुवाद किया, इशाअल्ला खाँ ने बडी रोचक और चलती भाषा मे 'रानी केतकी की कहानी' लिखी, लल्लूलाल गुजराती ने भागवत दशम स्कध के आधार पर 'प्रेम-सागर' लिखा और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' नामक उपाख्यान की गद्य रचना की। ये ग्रथ अत्यन्त लोकप्रिय हुए और पाठ्य ग्रथो के रूप मे इनका उपयोग हुआ। वास्तव मे अग्रेजो की प्रेरणा से, कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज में पाठ्य ग्रथो की रचना हुई थी। 'प्रेम सागर' इनमे सफल पुस्तक रही। इन ग्रंथो की गद्य-भाषा यद्यपि प्रान्तीयता से प्रभावित थी किन्तु उसमे व्यवस्था आ चली थी।

गद्य के प्रचार मे ईसाई मिशनरियों का भी बहुत हाथ रहा। बाइबिल का सरल अनुवाद करके उन्होंने एक-एक दो-दो पैसे मे उन्हे बेचना आरम्भ किया;

मुफ्त भी बाँटा। इस प्रकार खडी बोली गद्य का एक नया रूप स्थिर होने लगा। इसमे सरलता और सरसता, दोनो थी।

उन्नीसवी शताब्दी ईस्वी के पूर्वार्ध से हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओ का प्रकाशन आरम्भ हुआ। गद्य के विकास और उसके प्रसार के लिए यह बहुत बडा माध्यम था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके मित्र-वर्ग ने पत्र-पत्रिकाओ के माध्यम से ही अपने विविध-विषयक विचार प्रकाशित करने आरम्भ किए। भारतेन्दु के गुरु, राजा शिव प्रसाद 'सितारे हिन्द' और आगरे के राजा लक्ष्मण सिह ने इस समय तक गद्य की दो भिन्न विधियाँ प्रस्तुत की थी। राजा शिव प्रसाद अरबी-फारसी मिश्रित भाषा के पोषक थे और लक्ष्मण सिह ने सरस, मधुर, शुद्ध तथा सरल तत्सम शब्दो से युक्त, ब्रजभाषा की ओर झुकती हुई, खडी बोली का निर्माण किया था। हिन्दी प्रेमी जनता को यह भाषा पसन्द आई थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने गुरु शिव प्रसाद की भाषा का बहिष्कार किया और लक्ष्मण सिह की भाषा को महत्व दिया। उनके द्वारा प्रकाशित अनेक पत्रिकाओ मे इस भाषा का सुथरा स्वरूप प्राप्त होता है। निबंध नामक साहित्यिक विधि का आरम्भ इसी युग तथा इन्ही लेखको द्वारा स्वीकार किया जा सकता है।

भारतेन्दु और उनके मण्डल के विद्वान् लेखक किसी न किसी पत्र-पत्रिका के प्रकाशक अथवा सम्पादक अवश्य रहे। इन्ही पत्रो के माध्यम से वे अपनी तरगमयी शैली मे, समाज, धर्म, राजनीति आदि विषयो पर बडे मार्मिक तथा रोचक निबध प्रस्तुत करते थे। बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र, इस युग के दो प्रधान और श्रेष्ठ निबधकार हैं। शुद्ध निबधो की दृष्टि से इनकी रचनाएँ अनुपम है। इनके निबधों में वह सजीवता, मार्मिकता, व्यग्य-विनोद विद्यमान् है तथा उनमे इतनी तन्मयता है कि ऐसी रचनाएँ अन्य लेखको द्वारा प्रस्तुत न की जा सकी।

सन् १६०० ई० से 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन प्रयाग से आरम्भ हुआ। पहले इसके सम्पादक बा० श्याम सुन्दर दास रहे, बाद मे प० महावीर

प्रसाद द्विवेदी ने यह कार्य सभाला। द्विवेदी जी बडे-कडे अनुशासक थे। उन्होंने भाषा सबधी त्रुटियो पर विशेष ध्यान देकर, छपने के लिए आए हुए लेखो का सशोधन करके उन्हे छापना आरम्भ किया। भारतेन्दु-युग के लेखक अपनी मौज मे लिखते थे, उन्हे जो कुछ कहना था, उसे चलती हुई, मनोरजक भाषा मे कह जाते थे। आचार्य द्विवेदी इस अनुशासनहीनता के खिलाफ थे। उन्होने भाषा-सस्कार पर विशेष बल दिया, अशुद्ध भाषा की कटु आलोचना की और भाषा को समृद्ध और सुव्यवस्थित बनाने का पूरा प्रयास किया। 'द्विवेदी-युग' मे निबध-साहित्य की विशेष उन्नति हुई। बा० श्याम सुन्दर दास, महावीर प्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, पूर्ण सिह, रामचन्द्र शुक्ल, पद्मसिह शर्मा, कृष्ण-बिहारी मिश्र, प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला जैसे प्रतिभा सम्पन्न लेखको ने इस युग के निबध-साहित्य को आपूर्ण किया। इस युग मे विचार प्रधानता बढ चली थी और भाषा का भी पर्याप्त सस्कार हो चुका था, साथ ही भावुकता का लोप नही हुआ था, अतः इन सब के सयोग से निबध-साहित्य मे पर्याप्त हृदयग्राहिता तथा गम्भीरता का समावेश रहा। इस युग के निबध, हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

इसी युग मे अग्रेजी और बगला काव्य के प्रभाव से हिन्दी मे छायावाद का जन्म हुआ। भाषा के एक नवीन रूप का आविर्भाव हुआ। सूक्ष्म भावो की गहरी अभिव्यजना की आवश्यकता प्रतीत हुई। गद्य-भाषा मे भी लाक्षणिकता, रहस्यात्मकता, प्रतीकात्मकता आदि की सृष्टि हुई। प्रसाद, पत, निराला, महादेवी आदि छायावादी कवियो ने अपने निबधो मे इस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया। इनमे भावुकता का पूर्ण समावेश था यद्यपि विचारो की गम्भीरता भी अपनी पूर्ण प्रौढता के साथ विद्यमान् थी। गद्य गीत, गद्य काव्य की नवीन शैली भी इसी छायावादी भाषा के आधार पर प्रस्तुत हुई। राय कृष्णदास, माखनलाल चतुर्वेदी, चतुरसेन शास्त्री, वियोगी हरि ऐसे लेखको मे प्रधान है।

वर्तमान काल में निबध रचना का क्षेत्र विश्वविद्यालयो तक प्रसारित हो

गया है, एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि विश्वविद्यालयो के हिन्दी प्रेमी तथा विद्वान् अध्यापक प्रमुख रूप से निबध रचना कर रहे है। गम्भीर, गवेषणापूर्ण निबधो की रचना इन लेखको द्वारा हो रही है। प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प० हजारी प्रसाद द्विवेदी, प० नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० रामविलास शर्मा आदि अनेक लेखक साहित्यिक विपयो के विविध पक्षो पर सुलझे हुए विचार व्यक्त कर रहे हैं। बाहर के विद्वत्समाज मे प० परशुराम चतुर्वेदी, डॉ० रघुवीर सिह, डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि कितने ही लेखक श्रेष्ठ निबध-रचना मे सलग्न है।

निबध रचना का आरम्भ यद्यपि हिन्दी-साहित्य मे अर्वाचीन है तथापि इस शब्द का प्रयोग भारतीय साहित्य मे प्राचीन काल से होता रहा है। 'निबध' का अर्थ है 'बन्धन', बाँधना। आयुर्वेद, धर्म ग्रथो तथा व्यावहारिक जीवन मे इस शब्द का प्रयोग प्रचलित रहा है। साहित्य-क्षेत्र मे इसका प्रयोग दो अर्थों मे हुआ। जिस समय ग्रथ ताड-पत्र पर लिखे जाते थे और उनके बीच मे एक छेद करके उनमे डोरी पिरो कर उन्हे बाँध दिया जाता था, तब उसे निबध या ग्रन्थ (जो ग्रथित कर दिया गया हो) की सज्ञा दी जाती थी। दूसरी ओर, जिन रचनाओ मे भावो तथा विचारो का सगुफन तथा एकत्रीकरण कर दिया जाता था उन्हे निबध कहा जाता था। इस प्रकार मूलतः बधन के अर्थ को लेकर ही निबध शब्द का प्रयोग 'प्रचलित हुआ, किन्तु आधुनिक हिन्दी साहित्य मे इस शब्द का प्रयोग 'छोटे लेख' के लिए किया गया। इस प्रकार की रचनाओ का आरम्भ पाश्चात्य प्रभाव के कारण हिन्दी मे हुआ। प० बालकृष्ण भट्ट हिन्दी के प्रथम निबधकार स्वीकार किए जाते है।

सोलहवी शताब्दी ईस्वी मे फ्रान्स मे एक लेखक हुआ जिसका नाम था 'मौन्तेन'। सबसे पहले उसी ने निबध-रचना का आरम्भ किया। इन रचनाओ का उद्देश्य एक मात्र आत्माभिव्यक्ति करना था। इनमे केवल 'मुक्त, मन की मौज' के अनुसार तरगमयी-शैली मे अपने व्यक्तिगत भावो का हृदयस्पर्शी

अभिव्यजन होता था। न तो किसी विषय का सम्यक् प्रतिपादन और न उसका पूर्णता की ओर लेखक का ध्यान रहता था। अग्रेजी मे १७ वी श० ई० के लेखक अब्राहम काउले ने निबध (एसे—Essay) को जन्म दिया। अपने व्यक्तित्व को उन्मुक्त रूप मे व्यक्त करना उनका भी उद्देश्य था। अतएव यह स्पष्ट है कि निबध का उद्देश्य अपने व्यक्तित्व की मुक्त अभिव्यक्ति है। "एसे" शब्द का अर्थ ही है 'प्रयास', अत अपने हृदय मे उठती हुई भाव-धारा का पूर्ण अथवा अपूर्ण चित्र, एक तरगमयी शैली मे कर देना ही निबध रचना है।

इस प्रकार निबध के मौलिक रूप का विश्लेषण करने पर उसके निम्न-लिखित लक्षण प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

१—**व्यक्तित्व-प्रधानता**—निबध मे विषय की प्रधानता न होकर विषयि (व्यक्ति) की प्रधानता होती है। अपने व्यक्तित्व की भावमयी अभिव्यजना ही उसका उद्देश्य होता है। 'आत्म' की तुष्टि के लिए वह अपनी भावनाओ के आवेश मे प्रवाहित हो जाता है। यही भावनाएँ उसकी रचना का प्राण होती हैं। वैयक्तिक रुचि के आधार पर अपनी विभिन्न वृत्तियो, हास्य, विनोद, व्यग्य, दार्शनिकता, करुणा आदि का स्वच्छन्द और अबाध अभिव्यजन उसका उद्देश्य होता है। शुद्ध निबध का यह मूल तत्व है।

२—**आत्मीयता**—निबध लेखक अपने पाठक के सम्मुख अपने हृदय का नि.स्सकोच उद्घाटन करता है। इसे यदि 'आत्म-निवेदन' की शैली कहा जाय तो अनुचित न होगा। पाठक के साथ पूर्ण घनिष्ठता स्थापित करके अत्यन्त स्वाभाविक तथा आडम्बरहीन भाषा शैली मे वह अपनी बात कहता है। इस आत्मीयता के कारण उसका रागात्मक सम्बन्ध पाठक के साथ स्थापित हो जाता है। पाठक उसकी अनुभूतियो मे तन्मय हो जाता है।

३—**स्वच्छन्दता**—लेखक अपने वर्ण्य-विषय को जहाँ से चाहता है, उठाकर आरम्भ कर देता है। भूमिका बाँधकर क्रमानुसार वर्णन करना उसे अभीष्ट नही होता। भले ही उसकी रचनाएँ खण्डित अथवा अपूर्ण सी लगें किन्तु इनके द्वारा वह अपने मन की मौज और हृदय मे उठे हुए भावो का आक-

स्मिक स्वरूप व्यक्त करने मे सफल होता है। उसके चित्रण यथा तथ्य होते हैं। वह किसी प्रकार की निरकुशता या उच्छृखलता का परिचय नही देता, केवल इतनी स्वतन्त्रता ग्रहण करता है कि जब उसकी इच्छा हुई, उसने अपनी बात आरम्भ कर दी और जब इच्छा हुई, समाप्त कर दी, फिर भी रचना मे तारतम्य बना रहता है।

४—निर्विषयता—निबन्ध रचना के लिए किसी विस्तृत विषय की आवश्यकता नही होती। छोटी-सी घटना, छोटा-सा भाव या विचार, एक निबन्ध के लिए पर्याप्त विषय हो सकता है। लेखक विविध प्रकार की कल्पनाओ से उसे पूर्ण करता है। जिस प्रकार एक गीत लिखने के लिए अत्यल्प भाव पर्याप्त होता है, उसी प्रकार निबन्ध के लिए भी विषय की लघुता प्राप्त होती है। थोडी-सी बात को विभिन्न रूपो मे अभिव्यक्त करना निबन्धकार की विशेषता है।

५—संक्षिप्तता—निबन्ध-मूलता एक छोटी रचना होती है। विषय की लघुता का ध्यान रखते हुए यह स्पष्ट ही है कि उसका आकार विस्तृत नही हो सकता। किसी विशेष मन:स्थिति (Mood) मे रचना करने के कारण लेखक उसे शीघ्रातिशीघ्र सशक्त भाषा मे लिख डालता है। काव्य रचना के समान, कवित्वपूर्ण भाषा-शैली मे उसकी रचना होती है। लेखक को सक्षिप्त गुण का आश्रय ग्रहण करना पडता है।

६—शैली की विशेषता—'तरगमयता' की शैली निबन्ध मे प्रधान होती है। नाटकीयता, प्रलापशैली, व्यग्य, विनोद, चुटकियो का सहारा निबन्ध लेखक विशेष रूप से लेता है। भावात्मक, प्रवाहमयी शैली आरम्भ से अन्त तक व्याप्त रहती है। कवित्वमयता, चमत्कार-वृत्ति, आलकारिता लाक्षणिकता आदि गुणो का समावेश करके लेखक अपनी उक्तियो में शक्तिमत्ता तथा प्रभावशीलता का आविर्भाव करता है।

उपर्युक्त गुण, हिन्दी साहित्य के आरम्भिक निबन्धो मे, प्रचुरता के साथ देखे जा सकते हैं। प० बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त,

माधवप्रसाद मिश्र, आदि लेखको मे इन गुणो की प्रचुरता है । वर्तमान लेखको मे हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्धो मे ये गुण विद्यमान् है ।

बीसवी शताब्दी ईस्वी के आरम्भ से निबन्ध के रूप मे परिवर्तन होने लगा । उपर्युक्त 'निबन्ध' का स्वरूप 'लेख' बनकर अवतीर्ण हुआ । जहाँ तक अर्थ का सम्बन्ध है, निबन्ध और लेख के अर्थों मे विशेष अन्तर नही है । कहा जा सकता है कि 'लेख' का अर्थ कुछ विशेष व्यापक रूप मे लिया जा सकता है । जो कुछ भी लिखित रूप मे उपस्थित किया जाय, वही 'लेख' है । किन्तु लेख एक विचारपूर्ण, क्रम-बद्ध रचना है, जिसमे किसी विषय का सम्यक् विवेचन होता है । इसमे बुद्धिवाद और विचारात्मकता प्रधान हो जाती है, भावुकता यदि छूट नही जाती, तो गौण अवश्य हो जाती है ।

'सरस्वती,' 'मर्यादा', 'प्रभा', 'इन्दु', 'समालोचक' आदि पत्रिकाओ ने बीसवी शताब्दी के आरम्भ में इन विचार-प्रधान लेखो को विशेष प्रश्रय दिया । भाव प्रधान-निबन्ध भी लिखे जाते रहे, किन्तु लेख-लिखने की प्रवृत्ति बढने लगी । आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्रबधु, लोचन प्रसाद पाण्डेय, सम्पूर्णानन्द, रामचन्द्र शुक्ल आदि लेखको के विचार-प्रधान, समीक्षात्मक, मनोवैज्ञानिक लेख प्रकाशित होने लगे जिनमे भावुकता का भी उचित सयोग विद्यमान् रहता था । भारतीय सस्कृति, जीवन चरित्र, यात्राविवरण, सस्मरण आदि अनेक नवीन विषयो का नवीन रूप इन लेखो मे सम्मुख आया । निबन्ध का रूप बहुत कुछ विकसित हो चला ।

विषयो की विविधता के साथ-साथ शैली की विविधता दृष्टिगत होने लगी । गम्भीर और विश्लेषण-प्रवृत्ति को लेकर चलने वाले लेखो मे कथात्मकता, नाटकीयता, भावुकता अथवा कलात्मकता के दर्शन भी साथ-ही साथ होते है । ये निबन्ध अब निरुद्देश्य अथवा आत्मतुष्टि-मात्र के लिए न होकर, सोद्देश्य अथवा किसी विषय-विशेष का निरूपण करने के लिए लिखे जाने लगे । आज के निबध-क्षेत्र मे एक बार फिर शुद्ध निबध-रचना की प्रवृत्ति जाग्रत हो रही है और प्रायः भावनात्मक निबधो के दर्शन हो जाते हैं ।

आज के युग मे निबध-प्रकाशन का माध्यम प्रधानतया पत्र-पत्रिकाएँ ही है, ग्रथो की भूमिका के रूप मे भी कुछ श्रेष्ठ निबध प्रस्तुत किये जाते है। इनकी भाषा मे—सरलता और सर्वग्राह्यता की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है। उपयोगिता इनका प्रमुख तत्व है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम वर्तमान निबध-साहित्य का विभाजन निम्नलिखित वर्गो मे कर सकते हैं :—

१—**विचार प्रधान**—ये निबंध प्रधानतः विषय-प्रधान, विवेचनात्मक, समाज, इतिहास, साहित्य, सस्कृति आदि विषयो की सम्यक् समीक्षा करने के लिए लिखे जाते हैं। इनमें मनन, चिन्तन, सूक्ष्म विश्लेषण, विद्वत्ता के तत्व, स्पष्ट रूप से पाये जाते हैं। गम्भीरता, बुद्धिवैभव के साथ-साथ व्यावहारिकता-पूर्ण शैली इन निबन्धो की विशेषता है। बाबू श्यामसुन्दर दास, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल, श्री जयशकर प्रसाद', निराला, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प कृष्ण बिहारी मिश्र, श्री इलाचन्द्र जोशी, प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० राम विलास शर्मा, अज्ञेय, सम्पूर्णानन्द, महादेवी वर्मा, डॉ० नगेन्द्र, आदि इस वर्ग के सुपरिचित लेखक हैं। वास्तव मे आज का निबन्ध-साहित्य इसी श्रेणी की रचनाओ से आपूर्ण है।

२—**भाव प्रधान**—आज इस वर्ग के निबध कम लिखे जाते हैं, तथापि इधर व्यक्ति-प्रधान लेखो की ओर पुनः रुचि जाग्रत हुई है। तो गद्य काव्य, प्रतीकात्मक निबध इस श्रेणी के अन्तर्गत रक्खे जा सकते हैं। विचार-प्रधान लेखो के बीच भाव-प्रधानता का मिश्रण कर देने की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पडती है। रायकृष्णदास, वियोगी हरि, डॉ० रघुवीर सिंह, विश्वम्भर 'मानव' माखनलाल चतुर्वेदी, सियाराम शरण गुप्त, तारा पाण्डेय, दिनेश-नदिनी चोरड्या आदि इस श्रेणी के प्रसिद्ध लेखक-लेखिकाएँ हैं। तरगमयी शैली तथा भाषा-माधुर्य और कवित्वपूर्णता इन निबधो की विशेषता है। शुद्ध निबध की परम्परा का तारतम्य इन निबधो द्वारा सुरक्षित है। इनके द्वारा

निबध क्षेत्र को व्यापकता भी मिली है, गद्य गीत, प्रतीकात्मक रचनाएँ भी निबध श्रेणी मे सिमट आई हैं।

३—**मनोवैज्ञानिक**—निबध क्षेत्र में श्री जयशकर 'प्रसाद' ने मनोवैज्ञानिक निबन्ध निखने का श्रीगणेश किया था। चित्राधार मे उनके इस प्रकार के निबध है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस परम्परा को समृद्ध किया। मनोवृत्तियो का सूक्ष्म विश्लेषण ही इस प्रकार के निबधो का उद्देश्य है। इनमे लेखक की विद्वत्ता, भावुकता तथा कल्पनाशीलता के एक साथ दर्शन होते है। भाषा-शैली मे गम्भीरता प्रधान है। कही-कही शास्त्रीयता का भी सकेत मिलता है। अज्ञेय, मिलिन्द आदि लेखको ने इस प्रकार के निबन्ध लिखे हैं।

४—**कथात्मक तथा संस्मरणात्मक**—रेखाचित्र, यात्रा-विवरण, विगत जीवन की रोचक घटनाएँ, इस प्रकार के निबन्धो का विषय होती है। इन निबधो मे विषय और व्यक्ति, दोनो का सम्मिश्रण दृष्टिगत होता है। समाज के मध्य मे स्थित व्यक्ति का महत्व इन निबधो मे निरन्तर देखा जा सकता है। प्रधानता व्यक्तिगत अनुभवो की ही हो जाती है। भावुकता, भावावेश, कवित्वपूर्णता इन लेखो मे विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। बीच-बीच मे दार्शनिकता व्यग्य विनोद के छींटे भी मिल जाते है। भाषा-शैली विशेषतः व्यावहारिक तथा रोचक होती है। यात्रा-विवरण ऐसे निबधो मे विशेष महत्व रखते हैं। आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बढ जाने से ऐसे निबध विशेषतः लिखे जा रहे है। श्री सत्यदेव परिव्राजक, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, सियारामशरण गुप्त, सास्कृत्यायन, महादेवी वर्मा, राहुल बनारसीदास चतुर्वेदी, व्रजकिशोर नारायण आदि कितने ही नए-पुराने लेखक इस प्रकार के निबध प्रस्तुत करते है। ऐसे निबध आज कल लोकप्रिय हैं।

५—**हास्य व्यंग्यात्मक**—इस वर्ग के निबध हिन्दी-साहित्य मे अधिक नही है। वास्तव मे हमारा दार्शनिक तथा मर्यादावादी दृष्टिकोण हमे मुक्त हास्य, व्यग्य-विनोद की ओर बढने से रोकता है। दूसरी ओर सामाजिक, आर्थिक तथा व्यक्तिगत कुण्ठाएँ कभी-कभी लेखक को शिष्ट हास्य, व्यग्य के स्थान पर

गाली-गलौज के लिए प्रेरित कर देती है। कभी-कभी लेखक हास्य व्यग्य के बहाने उपदेश देने मे प्रवृत्त हो जाता है, अतः शुद्ध तथा उदार हास्य-व्यग्य की हिन्दी साहित्य मे कमी दिखलाई देती है। फिर भी अन्नपूर्णानन्द, प्रभाकर माचवे, कृष्णदेव प्रसाद गौड 'बेढब बनारसी' आदि लेखको ने सामाजिक, राजनैतिक धार्मिक विकृतियो के ऊपर सुन्दर व्यग्य किए है। भाषा शैली की व्यवहारिकता, रोचकता, उपयुक्त शब्द-यचन के बिना इस प्रकार के निबध सफल ही कैसे हो सकते है?

सक्षेपतः, उक्त वर्गों के अन्तर्गत हम हिन्दी के वर्तमान निबध साहित्य को रख सकते है। यह स्पष्ट है कि निबध-साहित्य क्रमशः उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि "यदि गद्य कवियो या लेखको की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है", वास्तव मे यह कथन अक्षरशः सत्य है। निबन्ध-साहित्य की सर्वाङ्गीण उन्नति को देखकर यह तथ्य सहज स्थापित हो जाता है कि हिन्दी-गद्य साहित्य पूर्ण प्रौढता की ओर बढ रहा है। निबन्ध साहित्य की सर्वतोमुखी समृद्धि क्रमशः अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त कर सकेगी, हमारा ऐसा विश्वास है।

आषाढ शुक्ल १५, स० २०१६
(गुरु पूर्णिमा)
३५, खुरशेद बाग, लखनऊ

ब्रजकिशोर मिश्र

———

बालकृष्ण भट्ट
(१६०१-१६७१)

सुख क्या है ?

सुख के सम्बन्ध मे आधुनिक वेदान्तियो का तो सिद्धान्त ही निराला है, जिन्होंने व्यास-कृत प्राचीन वेदान्त दर्शन के जो कुछ उत्तम सिद्धान्त थे कि सुख-दु ख मे एक-सा रहना, सुख मे फूल न उठना, दु ख मे घबडाय नही, सो न कर छिपे नास्तिक ये वेदान्ती अब मानते हैं कि सुख-दु.ख, पाप-पुण्य, बुरा-भला दोनो एक है और दोनो बडे बन्धन हैं। पाप-पुण्य दोनो शरीर करता है, आत्मा शुद्ध और निर्लेप है, इत्यादि। खैर वेदान्तियो के ये कच्चे सिद्धान्तो को अलग रख हम यहाँ पर आज विचार किया चाहते हैं कि सुख क्या है ? लोग कहते हैं इन पर भगवान की कृपा है ये बडे सुखी हैं। पर इसका कोई ठीक निश्चय अब तक न हुआ कि सुख क्या वस्तु है, जिसके लिये ससार भर ललचा रहा है। कोई बडे परिवारी और बढे हुए कुनबे को सुख की सीमा मानते हैं। कच्चे-बच्चे लडके-बालो से घर भरा हो, एक इधर रोता है, दूसरा उधर पडा चिल्ला रहा है, सब ओर किच-पिच गुल-शोर मच रहा है। एक बाबा की दाढी खसोटता है, दूसरा कान मीजता है, तीसरा गोद मे चढा बैठा है, चौथा सामने पडा मचल रहा है, बाबा बेवकूफ मनीमन फुटेहरा से मगन होते जाते है और अपने बराबर भाग्यमान और धन्य किसी को नही मानते। कोई-कोई इसी को बडा सुख मानते हैं कि अनगिन्ती रुपया पास हो, उलट-पुलट बार-बार उसे गिना करै न खाये न खरचैं साँप बने बैठे-बैठे ताकते रहैं। जैसे हो तैसे जमा जुडती रहै बात जाय, पत जाय, लोक मे निन्दा हो, कोई कितना ही भला बुरा कहे पर गाँठ का पैसा न जाय। तुम उसके रुपये या फाइदे मे खलल अन्देज न हुए हो, चाहो तुम्हारा जैसा बदकार, कम्बख्त, अपाहिज दूसरा

दुनिया के परदे मे न पैदा हुआ हो, तुम उसके लिए सिर की कलगी होगे। वही आप ससार के समस्त गुणियो मे अग्रगण्य हो अपने सुयश की महक से महर-महर करते सुचाल और सद्वृत्त की कसौटी मे कसे हुए हो पर उस खूसट स्वार्थ लम्पट से रुपये मे अपना उचित हक्क समझा खलल अन्देज हुए तो बस आपसा नालायक और बुरा दूसरा कोई उसकी निगाह मे न जँचैगा। उसके सामने आप का नाम किसी की जबान पर आ जाय तो गालियो के सहस्रनाम का पाठ प्रारम्भ कर देगा। न सिर्फ आपको वरन् आप जिनके बीच मे चलते फिरते है जो तुम्हे सद्वृत्त समझ तुम्हारी कदर करते है उनके लिये भी उसी सहस्र नाम का पाठ तैयार है। किसी की समझ मे हुकूमत बडा सुख है अपनी हुकूमत के जोर मे गरीब दुखियाओ को पीस उनका लहू सुखाय-सुखाय न्याय हो चाहे अन्याय अपना सुख और अपने फाइदे मे जरा भी कसर न पडे इत्यादि इस कम्बख्त के लिये सब सुख है।

किसी-किसी का मत है कि शरीर का निरोग रहना ही सुख सन्देह का उद्गार है। इसी मूल पर यह कहावत चल पडी है "एक तन्दुरुस्ती हजार न्यामत"। ये सब सुख ऐसे है जो देर तक रह सकते है और जिनके लिये हम हजार-हजार तदबीरे और फिक्र किया करते है, फिर भी ये तभी होते है जब पुर्बिले की कोई अच्छी कमाई हो। और अपने किये नही होता जब तक उस बडे मालिक को मजूर न हो। अब कुछ थोडे-से क्षुद्र सुखो को यहाँ पर गिनाते है और उन सुखो के भोक्ता किस प्रकार के होते है उसे भी उसी के साथ बताते चलैंगे। जैसा शहर के बदमाश और शोहदो को सुख नरम तथा राशी हाकिमो के होने से है। बनियो को महा दुर्भिक्ष परम सुख है, हजारो का अन्न खरीदे हुए हैं, नित्य पनसेरी लुढकाते-लुढकाते यह दिन आया कि अन्न ढूँढे नही मिलता, सेठजी साहब की गज भर की छाती है मुनाफे का गँजियो रुपया डेकार बैठे। दलालो को सुख आँख का अन्धा गाँठ का पूरा मिल जाने मे है। कलहा कर्कसा को सुख लडने और दाँत किर्रने मे है, परद्रोही ईर्षी को दूसरे के नुकसान मे है इत्यादि भिन्न-भिन्न रुचिवालो को जुदे-जुदे अन्दाज के सुख है। सच है "भिन्नरुचिर्हिलोक." कभी-कभी हमे सुख के भाव को लोगों पर प्रगट

होने से रोकना पडता है। हमारा एक परोसी सैदीवाल मर गया। जी से तो इतना खुश हुए मानो कारूँ का खजाना हाथ लगा पर लोक लाज भरने को चार भाइयो के बीच अपने सुख के भाव को छिपाने को उस मरे हुए के नाम पछताना पडता है। "क्या कहे कूच कर गये बहुत अच्छे थे भाई मौत से किसका वश है ऐसे ही मौके पर तो आदमी सब तरह विवश हो जाता है।"

सच पूछिये तो चित्त मे सुख का भाव पैदा होने की बुनियाद कुछ नही है केवल प्राप्य वस्तु के अभाव का मिट जाना ही सुख है। ईश्वर करे सुख मे रह कर पीछे से दुखी किसी को न होना पडे ऐसे को दुखी जीवन से मर जाना उत्तम है :—

सुखंहि दु खान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्।
सुखेन यो जाति नरो दरिद्रतां धृतः शरीरेण मृतः सजीवति ।।

जैसा घने अन्धेरे मे चले जाते हुए को एकाएक दीपक का उँजेला मिल जाय उसी तरह दु ख भोग तब सुख मे आ जाना शोभा देता है। जो मनुष्य सुख मे रह तव दरिद्र हो जाता है वह मानो शरीर धारण किये श्वास ले रहा है पर वास्तव मे मरा हुआ है। दु खैक मात्र सार इस ससार मे सुख से जीवन काटने का बहुतो का सुख चाहना पडता है। नौकर को अपने मालिक का सुख, रियाया को अपने हाकिम की खुशी, शार्गिद को उस्ताद की खुशी, माँ-बाप को अपने लडके बालो का सुख। आशिक तन को अपने दिलदार यार का सुख। शहर के रईसो को मैजिस्ट्रेट साहब की खुशनूदी। मातहत क्लर्कों को सर दफ्तर की खुशी। हमको अपने पढने वालो की प्रसन्नता आपेक्षित है। किसी रसीले चुटीले मजमून पर पढने वालो के दाँत निकल पडे, हमारा परिश्रम सफल हो गया। साध्वी सच्चरित्र स्त्रियो का सुख पति के सुख मे है। पादरी साहब की प्रसन्नता जगत भर को क्रिस्तान कर डालने मे है। सच्चे देशहितैषियो को देश की भलाई मे सुख है, इत्यादि। सुख को सब लोग कोने अँतरे सब ठौर ढूंढते फिरते है किन्तु उसके पाने में कृत कार्य हजार मे, लाख में, कही एक ही दो होते हैं। अगस्त १८९९

प्रताप नारायण मिश्र
(१८१३-१८५१)

होली है

तुम्हारा मिर है ! यहाँ दरिद्र की आग के मारे होला (अथवा होरा भुना हुवा हरा चना) हो रहे हैं इन्हे होली है, हे !

अरे कैसे मनहूस हो ? बरस-बरस का त्योहार है, उसमे भी वही रोनी सूरत ! एकही बार तो प्रसन्न हो कर बोलो, होरी है !

अरे भाई हम पुराने समय के बगाली भी तो नही हैं कि तुम ऐसे मित्रो की जबरदस्ती से होरी (हरि) बोल के शान्त हो जाते । हम तो बीसवी शताब्दी के अभागे हिन्दुस्तानी हैं, जिन्हे कृषि, वाणिज्य, शिल्प, सेवादि किसी मे भी कुछ तत नही है । खेतो की उपज अतिवृष्टि, अनावृष्टि, जगलो का कट जाना, रेलो और नहरो की वृद्धि इत्यादि ने मिट्टी कर दी है । जो कुछ उपजता भी है वह कट कर खलिहान मे नही आने पाता, ऊपर ही ऊपर लद जाता है । रुजगार-व्यौहार मे कही कुछ देख ही नही पडता । जिन बाजारो मे, अभी दस वर्ष भी नही हुए, कचन बरसता था वहाँ अब दूकाने भाँय-भाँय होती हैं । देशी कारीगरी को देश ही वाले नही पूछते । विशेषत. जो छाती ठोक-ठोक ताली बजवा-बजवा कागजो के तखते रग-रग कर देशहित के गीत गाते फिरते है वह और भी देशी वस्तु का व्यवहार करना अपनी शान से बईद समझते हैं । नौकरी बी० ए०, एम० ए०, पास करने वालो को भी उचित रूप मे मुश्किल से मिलती है । ऐसी दशा मे हमे होली सूझती है कि दीवाली ।

यह ठीक है पर यह भी तो सोचो कि हम तुम वशज किनके हैं ? उन्ही के न, जो किसी समय बसत-पचमी ही से :—

"आई माघ की पाँचै बूढ़ी डोकरिया नाचैं"

का उदाहरण बन जाते थे, पर जब इतनी सामर्थ्य न रही तब शिवरात्रि से होलिकोत्सव का आरम्भ करने लगे। जब इसका भी निर्वाह कठिन हुआ तब फागुन सुदी अष्टमी से—

"होरी मध्ये आठ दिन व्याह मांह दिन चार।
शठ पंडित वेश्या वधू सबै भए इकसार।।"

का नमूना दिखलाने लगे। पर उन्ही आनन्दमय पुरुषो के वश मे होकर तुम ऐसे मुहर्रमी बन जाते हो कि आज तिवहार के दिन भी आनन्द-बदन से होली का शब्द तक उच्चारण नही करते। सच कहो, कही होली बाइबिल की हवा लगने से हिन्दूपन को सलीब पर तो नही चढा दिया ?

तुम्हे आज क्या सूझी है, जो अपने पराये सभी पर मुँह चला रहे हो ? होली बाइबिल अन्य धर्म का ग्रन्थ है, उनके मानने वाले बिचारे पहिले ही से तुम्हारे साथ का भीतरी-बाहिरी सम्बन्ध छोड देते है। पहिली उमग मे कुछ दिन तुम्हारे मत पर कुछ चोट चला भी दिया करते थे, पर अब बरसो से वह चर्चा भी न होने के बराबर हो गई है। फिर उन छुटे हुए भाइयो पर क्यो बौछार करते हो ? ऐसी लुड्डास लगी हो तो उनसे जा भिडो जो अभी तुम्हारे ही कहलाते है, तुम्हारे ही साथ रोटी-वेटी का व्यवहार रखते है, तुम्हारे ही दो-चार मान्य ग्रन्थो के मानने वाले बनते है, पर तुम्हारे ही देवता पितर इत्यादि की निन्दा कर के तुम्हे चिढाने मे अपना धर्म और अपने देश की उन्नति समझते है।

अरे—राम राम ! पर्व के दिन कौन चरचा चलाते हो ! हम तो जानते थे कि तुम्ही मनहूस हो, पर तुम्हारे पास बैठे सो भी नसूढिया हो जाय। अरे बाबा दुनिया भर का बोझा परमेश्वर ने तुम्ही को नही लदा दिया। यह कारखाने हैं, भले बुरे लोग और दु ख सुख की दशा होती ही हुवाती रहती है। पर मनुष्य को चाहिए कि जब जैसे पुरुष और समय का सामना आ पडे तब तैसा बन जाय। मन को किसी झगडे मे न फँसने दे।

आज तुम कही से सचमुच भाँग खा के आए हो । इसी से ऐसी बेसिर पैर की हाँक रहे हो । अभी कल तक प्रेम-सिद्धान्त के अनुसार यह सिद्ध करते थे कि मन का किसी ओर लगे रहना ही कल्याण का कारण है, और इस समय कह रहे हो कि 'मन को किसी झगडे मे न फँसने दे' । वाह । भला तुम्हारी किस बात को माने ?

हमारी बात मानने का मन करो तो कुछ हो ही न जाओ । यही तो तुमसे नही होता । तुम तो जानते हो कि हम चोरी चहारी सिखावेंगे ।

नही यह तो नही जानते । और जानते भी हो तो बुरा नही मानते क्योकि जिस काल मे देश का अधिकाश निर्धन, निर्बल, निरुपाय हो रहा है उसमे यदि कुछ लोग "बुभुक्षितः कि न करोति पापँ" का उदाहरण बन जायँ तो कोई आश्चर्य नही है । पर हाँ यह तो कहेगे कि तुम्हारी बाते कभी-कभी समझ मे नही आती । इससे मानने को जी नही चाहता ।

यह ठीक है, पर याद रक्खो कि हमारी बाते मानने का मानस करोगे तो समझ मे भी आने लगेगी, और प्रत्यक्ष फल भी देगी ।

अच्छा साहब मानते है, पर यह तो बताइए जब हम मानने के योग्य ही नही है तो कैसे मान सकते हैं ?

छि. क्या समझा है ! अरे बाबा ! हमारी बाते मानने योग्य होना और सकना आवश्यक नहीं है । जो बाते हमारे मुँह से निकलती है वह वास्तव में नही है, और उनके मानने की योग्यता और शक्ति हमको तुमको क्या किसी को भी तीनो लोक और तीन काल मे नही है । पर इसमे भी सन्देह न करना कि जो कोई चुपचाप आँखे मीचकर मान लेता है वह परमानन्द भागी हो जाता है ।

हिहि ! ऐसी बाते मानने कौन आता है, पर सुन कर परमानन्द तो नही, हाँ मसखरेपन का कुछ मजा जरूर पा जाता है !

भला हमारी बातो मे तुम्हारे मुँह से हिहि तो निकली ! इस तोबडा से लटके हुए मुँह के टाँको के समान दो-तीन दाँत तो निकले । और नही तो

मसखरेपन ही का सही मजा तो आया। देखो मट्टी के तेल की रोशनी और कुल्हिया के ऐनक की चमक से चौधिया न गई हो तो देखो ! छत्तिसौ जात, बरन अजात के जूठे गिलास की मदिरा तथा भच्छ-अभच्छ की गध से अक्किल भाग न गई हो तो समझो। हमारी बाते सुनने मे इतना फल पाया है तो मानने मे न जाने क्या प्राप्त हो जायगा। इसी से कहते है, भैया मान जाव, राजा मान जाव, मुन्ना मान जाव। आज मन मार के बैठे रहने का दिन नही है। पुरखो के प्राचीन सुख-सम्पत्ति को स्मरण करने का दिन है। इससे हँसो, बोलो, गाओ, बजाओ, त्योहार मनाओ, सबसे कहते फिरो-होली है।

हो तो ली ही है। नही तो अब रही क्या गया है ?

खैर, जो कुछ रह गया है उसी के रखने का यत्न करो, पर अपने ढग से, न कि विदेशी ढग से। स्मरण रक्खो कि जब तक उत्साह के साथ अपनी ही रीति नीति का अनुसरण न करोगे तब तक कुछ न होगा ! अपनी बातो को बुरी दृष्टि से देखना पागलपन है । रोना निस्साहसो का काम है। अपनी भलाई अपने हाथ से हो सकती है। माँगने पर कोई नित्य डबल रोटी का टुकडा भी न देगा। इससे अपन पना मत छोडो । कहना मान जाव। आज होली है !

हाँ, हमारा हृदय तो दुर्दैव के बाणो से पूर्णतय होली (हॉल अग्रेजी मे छेद को कहते है, उससे युक्त) है ! हमे तुम्हारी-सी जिंदादिली (सहृदयता) कहाँ से सूझे ?

तो सहृदयता के बिना कुछ आप कर भी नही सकते, यदि कुछ रोए पीटे दैवयोग से हो भी जायगा तो "नकटा जिया बुरे हवाल" का लेखा होगा। इससे हृदय मे होल (छेद) है तो उन पर साहस की पट्टी चढाओ। मृतक की भॉति पडे-पडे कॉखने से कुछ न होगा। आज उछलने ही कूदने का दिन है। सामर्थ्य न हो तो चलो किसी हौली (मद्यालय) से थोडी-सी पिला लावे, जिसमे कुछ देर के लिए होली के काम के हो जाओ, यह नेस्ती काम की नही।

वाह तो क्या मदिरा पिलाना चाहते हो ?

यह कलजुग है। बडे-बडे बाजपेयी पीते है। पीछे से बल, बुद्धि, धर्म, धन, मान, प्रान सब स्वाहा हो जाय तो बला से ! पर थोडी देर उसकी तरग मे "हाथी मच्छर, सूरज जूगनू" दिखाई देता है। इससे, मनोविनोद के अभाव मे, उसके सेवको के लिए कभी-कभी उसका सेवन कर लेना इतना बुरा नही है जितना मृतचित्त बन बैठना। सुनिये ! सगीत, साहित्य, सुरा और सौदर्य के साथ यदि नियम-विरुद्ध बर्ताव न किया जाय तो मन की प्रसन्नता और एकाग्रता से कुछ न कुछ लाभ अवश्य होता है, और सहृदयता की प्राप्ति के लिए इन दो गुणो की आवश्यकता है, जिनके बिना जीवन की सार्थकता दु साध्य है।

बलिहारी है, महाराज इस क्षणिक बुद्धि की । अभी तो कहते थे कि मन को किसी झगडे मे फसने न देना चाहिए और अभी कहने लगे कि मन की एकाग्रता के बिना सहृदयता तथा सहृदयता के बिना जीवन की सार्थकता दु साध्य है। धन्य है, यह सरगापत्तालो बाते। भला हम आपको अनुरागी समझे या विरागी ?

अरे हम तो जो हैं, वही है, तुम्हे जो समझना हो समझ लो। हमारी कुछ हानि नही है। पर यह सुन रक्खो, सीख रक्खो, समझ रक्खो कि अनुराग और विराग वास्तव मे एक ही है। जब तक एक ओर अचल अनुराग न होगा तब तक जगत के खटराग मे विराग नही हो सकता, और जब तक सब ओर आतरिक विराग न हो जाय तब तक अनुराग का निर्वाह सहज नही है इसी से कहते है कि हमारी बाते चुपचाप मान ही लिया करो, बहुत अक्किल को दौडा-दौडा के थकाया न करो। इसी मे आनद भी आता है, और हृदय का कपाट भी खुल जाता है। साधारण बुद्धिवाले लोग भगवान भूतनाथ श्मशान-विहारी, मुण्डमालाधारी को वैराग्य का अधिष्ठाता समझते है, पर वह आठो पहर अपनी प्यारी पर्वत-राज नन्दिनी को वामाग ही मे धारण किये रहते हैं, और प्रेम-शास्त्र के आचार्य है। इसी प्रकार भगवान कृष्णचन्द्र को लोग शृगार रस का देवता समझते है, पर उनकी निर्लिप्तता गीता मे देखनी चाहिए जिसे सुना के उन्होंने अर्जुन का मोह-जाल छुडा के वर्तमान कर्त्तव्य के लिए ऐसा दृढ

कर दिया था कि उन्होने सबकी दया-मया, मोह-ममता को तिलाजलि देके मारकाट आरम्भ कर दी थी। इन बातो से तत्व-ग्राहिणी समझ भली-भाँति समझ सकती है कि भगवान प्रेमदेव की अनन्त महिमा है। वहाँ अनुराग-विराग, सुख-दुःख, मुक्ति-साधन सब एक ही है। इसी से सच्चे समझदार ससार मे रहकर सब कुछ देखते, सुनते, करते, धरते हुए भी ससारी नही होते। केवल अपनी मर्यादा मे बने रहते है, और अपनी मर्यादा वही है जिसे सनातन से समस्त पूर्व-पुरुष रक्षित रखते आये है, और उनके सुपुत्र सदा मानते रहेगे। काल, कर्म, ईश्वर, अनूकूल हो वा प्रतिकूल, सारा ससार स्तुति करे वा निन्दा, बाह्य दृष्टि से लाभ देख पडे वा हानि पर वीर पुरुष वही है जो कभी कही किसी दशा मे अपनेपन से स्वप्न मे भी विमुख न हो। इस मूल मत्र को भूल के भी न भूले कि जो हमारा है वही हमारा है। उसी से हमारी शोभा है और उसी से हमारा वास्तविक कल्याण है।

एतदनुसार आज हमारी होली है। चित्त शुद्ध करके वर्ष भर की कही सुनी क्षमा करके, हाथ जोड के, पाँव पडके, मित्रो को मना के, बाहे पसार के उनसे मिलने और यथा सामर्थ्य जी खोल के परस्पर की प्रसन्नता सम्पादन करने का दिन है। जो लोग प्रेम का तत्व तनिक भी नही समझते, केवल स्वार्थ-साधन ही को इतिकर्त्तव्य समझते है पर है अपने ही देश जाति के, उनसे घृणा न करके ऊपरी आमोद-प्रमोद मे मिला के, समयातर मे मित्रता का अधिकारी बनाने की चेष्टा करने का त्योहार है। जो निष्प्रयोजन हमारी बात-बात पर मुकरते ही हो उन्हे अपने भाग्य के आधीन छोड के अपनी मौज मे मस्त रहने का समय है। इसी से कहते है, नई बहू की नाई घर मे न घुसे रहो, पर्व के दिन मन मार के न बैठो, घर बाहर, हेती व्यौहारी से मानसिक आनन्द के साथ कहते फिरो—हो ओ ली ई ई ई है।

बाल मुकुन्द गुप्त
(१८६५-१९०७)

3

मेले का ऊँट

भारत-मित्र सम्पादक ! जीते रहो—दूध बताशे पीते रहो ! भाँग भेजी सो अच्छी थी, फिर वैसी ही भेजना । गत सप्ताह अपना चिट्ठा आपके पत्र मे टटोलते हुए "मोहन मेले" के लेख पर निगाह पडी । पढ कर आपकी दृष्टि पर अफसोस हुआ । पहली बार आपकी बुद्धि पर अफसोस हुआ था । भाई ! आपकी दृष्टि गिद्ध की-सी होनी चाहिए, क्योकि आप सम्पादक है । किन्तु आपकी दृष्टि गिद्ध की-सी होने पर भी उस भूखे गिद्ध की-सी निकली जिसने ऊँचे आकाश मे चढे-चढे भूमि पर एक गेहूँ का दाना पडा देखा, पर उसके नीचे जो जाल बिछ रहा था यह उसे न सूझा । यहाँ तक कि उस गेहूँ के दाने को चुगने से पहले जाल मे फँस गया ।

"मोहन-मेले" मे आपका ध्यान दो पैसे की एक पूरी की तरफ गया । न जाने आप घर से कुछ खाकर गये थे या यो ही । शहर की एक पैसे की पूरी के मेले मे दो पैसे हो तो आश्चर्य न करना चाहिए, चार पैसे भी हो सकते थे । यह क्या देखने की बात थी ? तुमने व्यर्थ बाते बहुत देखी, काम की एक भी तो देखते । दाई ओर जाकर तुम ११ सौ सतरो का एक पोस्टकार्ड देख आये पर बाई तरफ बैठा हुआ ऊँट भी तुम्हे दिखाई न दिया । बहुत लोग इस ऊँट की ओर देखते और हँसते थे । कुछ लोग कहते थे, कि कलकत्ते मे ऊँट नही होते इसी से मोहन-मेले वालो ने इस विचित्र जानवर का दर्शन कराया है । बहुत-सी शौकीन बीबियाँ, कितने ही फूल बाबू, ऊँट का दर्शन करके खिलते दाँत निकालते चले गए । तब कुछ मारवाडी बाबू भी आये और झुक-झुक कर

उस काठ के घेरे मे बैठे हुए ऊँट की तरफ देखने लगे। एक ने कहा—"ऊँटडो है।" दूसरा बोला—"ऊँटडो कठेते आयो ?" ऊँट ने भी यह देख दोनो ओठो को फडकाते हुए थूथनी फटकारी। भग की तरग मे मैने सोचा कि ऊँट अवश्य ही मारवाडी बाबुओ से कुछ कहता है। जी मे सोचा चलो देखे वह क्या कहता है। क्या उसकी भाषा मेरी समझ मे न आवेगी ? मारवाडियो की भाषा समझ लेता हूँ तो मारवाड के ऊँट की बोली समझ मे न आवेगी ? इतने मे तरग कुछ अधिक हुई। ऊँट की बोली साफ-साफ समझ मे आने लगी। ऊँट ने उन मारवाडी बाबुओ की ओर थूथनी करके कहा—

"बेटा ! तुम बच्चे हो, तुम क्या जानोगे ? यदि मेरी उमर का कोई होता तो जानता। तुम्हारे बाप के बाप जानते थे कि मै कौन हूँ, क्या हूँ ? तुमने कलकत्ते के महलो मे जन्म लिया। तुम पोतडो के अमीर हो ! मेले मे बहुत चीजे हैं, उनको देखो और यदि तुम्हे फुरसत हो तो लो सुनो सुनाता हूँ। आज दिन तुम विलायती फिटन, टमटम और जोडियो पर चढकर निकलते हो, जिनकी कतार तुम मेले के द्वार पर मीलो तक छोड आये हो, तुम उन्ही पर चढ कर मारवाड से कलकत्ते नही पहुँचे थे। यह सब तुम्हारे साथ की जन्मी हुई है। तुम्हारे बाप पचास साल के भी न होगे इससे वह भी मुझे भली-भाँति नही पहचानते। हाँ, उनके भी बाप हो तो मुझे पहचानेगे। मैने ही उनको पीठ पर लाद कर कलकत्ते तक पहुँचाया है।

आज से पचास साल पहले रेल कहाँ थी। मैने मारवाड से मिर्जापुर तक और मिर्जापुर से रानीगज तक कितने ही फेरे किये है। महीनो तुम्हारे पिता के पिता तथा उनके भी पिताओ का घरबार मेरी ही पीठ पर रहता था। जिन-जिन स्त्रियो ने तुम्हारे बाप और बाप के भी बाप को जना है वह सदा मेरी पीठ को ही पालकी समझती थी। मारवाड मे मै सदा तुम्हारे द्वार पर हाजिर रहता था, पर यहाँ वह मौका कहाँ ? इसी से यहाँ मेले मे तुम्हे देख कर आँखें शीतल करने आया हूँ। तुम्हारी भक्ति घट जाने पर भी मेरा वात्सल्य नही घटा है। घटे कैसे, मेरा तुम्हारा जीवन एक ही रस्सी से बधा हुआ था। मैं ही हल चलाकर तुम्हारे खेतो मे अन्न उपजाता था और मै ही चारा आदि

पीठ पर लाद कर तुम्हारे घर पहुँचाता था। यहाँ कलकत्ते मे जल की कले है, गगा जी है, जल पिलाने को ग्वाले कहार है पर तुम्हारी जन्मभूमि मे मेरी ही पीठ पर लाद कर कोसो से जल आता था और तुम्हारी प्यास बुझाता था।

मेरी इस घायल पीठ को घृणा से न देखो। इस पर तुम्हारे बडे, अन्न, रस्सियाँ यहाँ तक कि उपले लाद कर दूर-दूर तक ले जाते थे। जाते हुए मेरे साथ पैदल जाते थे और लौटते हुए मेरी पीठ पर चढे हुए हिचकोले खाते वह स्वर्गीय सुख लूटते थे कि तुम रबड के पहिये वाली चमडे की कोमल गद्दियोदार फिटिन मे बैठ कर भी वैसा आनन्द प्राप्त नही कर सकते। मेरी बलबलाहट उनके कानो को इतनी सुरीली लगती थी कि तुम्हारे बागीचो मे तुम्हारे गवैयो तथा तुम्हारी पसन्द की बीबियो के स्वर भी तुम्हे उतने अच्छे न लगते होंगे। मेरे गले के घन्टो का शब्द उनको सब बाजो से प्यारा लगता था। फोग के जगल मे मुझे चरते देख कर वह उतने ही प्रसन्न होते थे जितने तुम अपने सजे बागीचो मे भग पीकर, पेट भर कर और ताश खेल कर।

भग की निन्दा सुनकर मैं चौक पडा। मैंने ऊँट से कहा, बस, बलबलाना बन्द करो। यह बावला शहर नही जो तुम्हे परमेश्वर समझे। तुम पुराने हो तो क्या, तुम्हारी कोई कल सीधी नही है। जो पेडो की छाल और पत्तो से शरीर ढाँकते थे, उनके बनाये कपडो से सारा ससार बाबू बना फिरता है, जिनके पिता सिर गठरी ढोते थे, वही पहले दरजे के अमीर है, जिनके पिता स्टेशन से गठरी आप ढोकर लाते थे उनको सिर पर पगडी सम्हालना भारी है, जिनके पिता का कोई पूरा नाम न लेकर पुकारता था, वह बडी-बडी उपाधिधारी हुए है। ससार का जब यही रग है तो ऊँट पर चढने वाले सदा ऊँट ही पर चढे, यह कुछ बात नही। किसी की पुरानी बात यो खोल कर कहने से आजकल के कानून से हतक-इज्जत हो जाती है। तुम्हे खबर नही कि अब मारवाडियो ने "एसोसियेशन" बना ली है। अधिक बलबलाओगे तो वह रिजोल्यूशन पास करके तुम्हे मारवाड से निकलवा देंगे। अत तुम उनका कुछ गुणगान करो जिससे वह तुम्हारे पुराने हक को समझे और जिस प्रकार लार्ड

कर्जन ने किसी जमाने के "ब्लैक होल" को उस पर लाठ बनवा कर और उसे सगमरमर से मढवा कर शानदार बनवा दिया है उसी प्रकार मारवाडी तुम्हारे लिये मखमली काठी, जरी की गद्दियाँ, हीरे पन्ने की नकेल और सोने की घटियाँ बनवा कर तुम्हे बडौ करेंगे और अपने बडौ की सवारी का सम्मान करेगे ।

महावीर प्रसाद द्विवेदी
(१८२१-१६६५)

४

कवि और कविता

इस पुस्तक मे आरम्भ मे कवि कर्त्तव्य नाम का एक लेख आ चुका है। उसमे यह दिखलाया गया है कि कविता को सरस, मनोरजक और हृदयग्राहिणी बनाने के लिए कवि को किन-किन बातो का ख्याल रखना चाहिए क्योकि अच्छी कविता लिखना सबका काम नही पर इस बात का विचार आजकल के कितने ही पद्यरचना कर्त्ता बहुत कम करते है। उन्होंने कविता लिखना बहुत सहल काम समझ लिया है। वे शायद तुली हुई पक्तियो ही को कविता समझते है। यह भ्रम है। कविता एक चीज है, तुली हुई शब्द-स्थापना दूसरी चीज।

उर्दू का साहित्य समूल हिन्दी से बढा-चढा है। इस बात को कबूल करना ही चाहिए। हिन्दी के हितैषियो को उचित है कि हिन्दी साहित्य को उन्नत करके उसकी लाज रक्खे। उर्दू मे इस समय अनेक विषयो के कितने ही ऐसे-ऐसे ग्रन्थ विद्यमान है जिनका नाम तक हिन्दी मे नही। उर्दू लेखको मे शम्स-उल-उल्मा हाली, आजाद, ज़काउल्ला, नज़ीर अहमद आदि की बराबरी करने वाला हिन्दी मे शायद ही कोई हो। इन साहित्य सेवियो ने उर्दू के ज्ञानागारं कों खूब समृद्धिशाली कर दिया है। हिन्दी वालो को चाहिए कि वे इन लोगो की पुस्तकें पढे और वैसी ही पुस्तके हिन्दी मे लिखने की कोशिश करे। इनमे से आज हमे हाली के विषय मे कुछ कहना है।

शम्स-उल-उल्मा मौलाना अल्ताफहुसैन हाली उर्दू के बहुत बडे कवि हैं। आपने उर्दू मे नई तरह की कविता की नीव डाली है। आपकी "मुसद्दस" नाम की कविता गजब की है। जिन्होंने इसे न पढा हो, जरूर पढे। आप देहली

के पास, पानीपत, के रहने वाले है। देहली के प्रसिद्ध कवि असदुल्ला खाँ (गालिब) की कृपा से आपने कविता सीखी। पहले आप लाहौर मे मुलाजिम थे। वहाँ से देहली आये। अब आप शायद पानीपत मे मकान ही पर रहते है।* बूढे हो गये है। आपने कई अच्छी-अच्छी पुस्तके लिखी है। कविता मे आपका बडा नाम है। आपने 'मुकद्दमा' नाम का एक लेख लिखा है। यह लेख आपके दीवान के साथ छपा है। इस लेख मे आपने कवि और कविता पर अपने विचार बडी योग्यता से प्रकट किये है। प्राय. उसी आधार पर हम यह लेख लिखते हैं।

यह बात सिद्ध समझी गई है कि अच्छी कविता अभ्यास से नही आती। जिसमे कविता करने का स्वाभाविक माद्दा होता है वही कविता कर सकता है। देखा गया है कि जिस विषय पर बडे-बडे विद्वान् अच्छी कविता नही कर सकते उसी पर अपढ और कम उम्र के लडके कभी-कभी अच्छी कविता लिख देते है। इससे स्पष्ट है कि किसी-किसी मे कविता लिखने की इस्तेदाद स्वाभाविक होती है, ईश्वरदत्त होती है। जो चीज ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी। वह निरर्थक नही हो सकती। उससे समाज को कुछ न कुछ लाभ अवश्य पहुँचता है। अतएव कोई यह समझता हो कि कविता करना व्यर्थ है तो यह उसकी भूल है। हाँ, कविता के लक्षणो से च्युत, तुले हुए वर्णों या मात्राओ की पद्य नामक पक्तियाँ व्यर्थ हो सकती है। आजकल प्राय. ऐसे ही पद्य मालिकाओ का प्राचुर्य है। इससे यदि कविता को कोई व्यर्थ समझे तो आश्चर्य नही।

कविता यदि यथार्थ मे कविता है तो सम्भव नही कि उसे सुनकर सुनने वाले पर कुछ असर न हो। कविता से दुनियाँ मे आज तक बहुत बड़े-बडे काम हुए हैं। इस बात के प्रमाण मौजूद है। अच्छी कविता सुनकर कवितागत रस के अनुसार दु ख, शोक, क्रोध, करुणा और जोश आदि भाव पैदा हुए बिना नही रहते। जैसा भाव मन मे पैदा होता है, कार्य के रूप मे फल भी वैसा ही होता है। हम लोगो मे, पुराने जमाने मे, भाट, चारण आदि अपनी-अपनी

---

* खेद है, आपका देहान्त हो गया (१९१९)

कविता ही की बदौलत वीरो मे वीरता का सञ्चार कर देते थे। पुराणादि में कारुणिक प्रसगो का वर्णन सुनने और उत्तर-रामचरित आदि दृश्य काव्यो का अभिनय देखने से जो अश्रुपात होने लगता है वह क्या है ? यह अच्छी कविता ही का प्रभाव है। पुराने जमाने मे ग्रीस के एथेन्स नगर वाले मेगारा वालो से बैर भाव रखते थे। एक टापू के लिए उनमे कई दफे लडाइयाँ हुईं। पर हर बार एथेन्स वालो ही की हार हुई। इस पर सोलन नाम के विद्वान को बडा दु ख हुआ। उसने एक कविता लिखी। उसे उसने एक ऊँची जगह पर चढ कर एथेन्स वालो को सुनाया। कविता का भावार्थ यह था—

"मैं एन्थेस मे न पैदा होता तो अच्छा था। मैं किसी और देश मे क्यो न पैदा हुआ ? मुझे ऐसे देश मे पैदा होना था जहाँ के निवासी मेरे देश भाइयो से अधिक वीर, अधिक कठोर हृदय और उनकी विद्या से बिलकुल बेखबर हो। मैं अपनी वर्तमान अवस्था की अपेक्षा उस अवस्था मे अधिक सन्तुष्ट होता। यदि मैं किसी ऐसे देश मे पैदा होता तो लोग मुझे देखकर यह तो न कहते कि यह आदमी उसी एथेन्स का रहने वाला है जहाँ वाले मेगारा के निवासियो से लडाई मे हार गये और लडाई के मैदान से भाग निकले। प्यारे देश-बन्धु, अपने शत्रुओ से जल्द इसका बदला लो। अपने इस कलक को फौरन धो डालो। अपने लज्जा-जनक पराजय के अपयश को दूर कर दो। जब तक अपने अन्यायी शत्रुओ के हाथ से अपना छिना हुआ देश न छुडा लो तब तक एक मिनट भी चैन से न बैठो।" लोगो के दिल पर इस कविता का इतना असर हुआ कि फौरन मेगारा वालो पर फिर चढाई कर दी गई और जिस टापू के लिए यह बखेडा हुआ था उसे एथेन्स वालो ने लेकर चैन ली। इस चढाई मे सोलन को सेनापति बनाया गया था।

रोम, इग्लैंड, अरब फारस आदि देशो मे इस बात के सैकड़ो उदाहरण मौजूद हैं कि कवियो ने असम्भव बाते सभव कर दिखाई है। जहाँ पस्तहिम्मती का दौरा-दौरा था वहाँ जोश पैदा कर दिया है। जहाँ शान्ति थी वहाँ गदर मचा दिया है। अतएव कविता एक साधारण चीज है। परन्तु बिरले ही को सत्कवि होने का सौभाग्य प्राप्त होता है।

जब तक ज्ञान वृद्धि नही होती—जब तक सभ्यता का जमाना नही आता तभी तक कविता की विशेष उन्नति होती है । क्योकि सभ्यता और कविता मे परस्पर विरोध है । सभ्यता और विद्या की वृद्धि होने से कविता का असर कम हो जाता है । कविता मे कुछ न कुछ झूठ का अश जरूर रहता है । असभ्य अथवा अर्द्धसभ्य लोगो को यह अश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगो को बहुत । तुलसीदास की रामायण के खास-खास स्थानो पर जितना प्रभाव स्त्रियो पर पडता है उतना पढे-लिखे आदमियो पर नही । पुराने काव्यो को पढने से लोगो का चित्त जितना पहिले आकृष्ट होता था उतना अब नही होता । हजारो वर्ष से कविता का क्रम जारी है । जिन प्राकृतिक बातो का वर्णन कवि करते हैं उनका वर्णन बहुत कुछ अब तक हो चुका । जो नये कवि होते हैं वे भी उलटफेर से प्राय उन्ही बातो का वर्णन करते है । इसी से अब कविता कम हृदय-ग्राहिणी होती है ।

ससार मे जो बात जैसी देखे कवि को उसे वैसे ही वर्णन करना चाहिए । उनके लिए किसी तरह की रोक या पाबन्दी का होना अच्छा नही । दबाव से कवि का जोश दब जाता है । उसके मन मे जो भाव आप ही आप पैदा होते हैं उन्हे जब वह निडर होकर अपनी कविता मे प्रकट करता है तभी उसका असर लोगो पर पूरा-पूरा पडता है । बनावट से कविता बिगड जाती है । किसी राजा या किसी व्यक्ति-विशेष के गुण-दोषो को देख कर कवि के मन मे जो भाव उद्भूत हो उन्हे यदि वह बेरोक-टोक प्रकट कर दे तो उसकी कविता हृदयद्रावक हुए बिना न रहे । परन्तु परतन्त्रता, या पुरस्कार-प्राप्ति या और किसी कारण से, सच बात कहने मे किसी तरह की रुकावट पैदा हो जाने से, यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नही होता तो, कविता का रस जरूर कम हो जाता है । इस दशा मे अच्छे कवियो की भी कविता नीरस, अतएव प्रभाव-हीन हो जाती है । सामाजिक और राजनीतिक विषयो मे, कटु होने के कारण, सच कहना भी जहाँ मना है, वहाँ इन विषयो पर कविता करने वाले कवियो की उक्तियो का प्रभाव क्षीण हुए बिना नही रहता । कवि के लिए कोई रोक न होनी चाहिए अथवा जिस विषय मे रोक हो उस विषय पर कविता ही

न लिखनी चाहिए। नदी, तालाब, बन, पर्वत, फूल, पत्ती, गरमी सरदी आदि ही के वर्णन से उसे सतोष करना उचित है।

खुशामद के जमाने मे कविता की बुरी हालत होती है। जो कवि राजो, नव्वाबो या बादशाहो के आश्रय मे रहते है, अथवा उनको खुश करने के इरादे से कविता करते हैं उनको खुशामद करनी पडती है। वे अपने आश्रय-दाताओ की इतनी प्रशसा करते है इतनी स्तुति करते है कि उनकी पक्तियॉ असलियत से बहुत दूर जा पडती हैं। इससे कविता को बहुत हानि पहुँचती है। विशेष करके शिक्षित और सभ्य देशो मे कवि का काम, प्रभावोत्पादक रीति से, यथार्थ घटनाओ का वर्णन करना है, आकाश-कुसुमो के गुलदस्ते तैयार करना नही। अलकार-शास्त्र के आचार्यो ने अतिशयोक्ति एक अलकार जरूर माना है। परन्तु अभावोक्तियाँ भी क्या कोई अलकार है? किसी कवि की बेसिर पैर की बाते सुनकर किस समझदार आदमी को आनन्द प्राप्ति हो सकती है? जिस समाज के लोग अपनी झूठी प्रशसा सुनकर प्रसन्न होते है वह समाज कभी प्रशसनीय नही समझा जाता। काबुल के अमीर हबीबुल्ला खाँ ने अपनी कविता-बद्ध निराधार प्रशसा सुनने से, अभी कुछ ही दिन हुए, इनकार कर दिया। खुशा-मद-पसन्द आदमी कभी आदर की दृष्टि से नही देखे जाते।

कारण-वश अमीरो की झूठी प्रशसा करने अथवा किसी एक ही विषय की कविता मे कवि-समुदाय के आमरण लगे रहने से कविता की सीमा कट-छँट कर बहुत थोडी रह जाती है। इस तरह की कविता उर्दू मे बहुत अधिक है। यदि यह कहे की आशिकाना (शृगारिक) कविता के सिवा और तरह की कविता उर्दू मे है ही नहीं, तो बहुत बड़ी अत्युक्ति न होगी। किसी दीवान को उठाइये, किसी मसनवी को उठाइये, आशिक मासूको के रगीन रहस्यो से आप उसे आरम्भ से अन्त तक रगी हुई पाइयेगा। इश्क़ भी यदि सच्चा हो तो कविता मे कुछ असलियत आ सकती है। पर क्या कोई कह सकता है कि आशिकाना शेर कहने वालो का सारा रोना, कराहना, ठडी सासे लेना, जीते ही अपने कब्रो पर चिराग़ जलाना सब सच है? सब न सही, उनके प्रलापो का क्या थोडा-सा भी अश सच है? फिर इस तरह की कविता सैकडो वर्षों से होती आ

रही है। अनेक कवि हो चुके, जिन्होने इस विषय पर न मालूम क्या-क्या लिख डाला है। इस दशा मे नये कवि अपनी कविता मे नयापन कैसे ला सकते है? वही तुक, वही छन्द, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक। इस पर भी लोग पुरानी लकीर को बराबर पीटते जाते है। कवित्त, सवैये, घनाक्षरी, दोहे, सोरठे लिखने से बाज नही आते। नख सिख, नायिका भेद, अलकार शास्त्र पर पुस्तको पर पुस्तके लिखने चले जाते है। अपनी व्यर्थ बनावटी बातो से देवी-देवताओ तक को बदनाम करने से नही सकुचते। फल इसका यह हुआ कि कविता की असलियत काफूर हो गई है। उसे सुनकर सुनने वाले के चित्त पर कुछ भी असर नही होता उलटा कभी मन मे घृणा का उद्रेक अवश्य उत्पन्न हो जाता है।

कविता के बिगडने और उसकी सीमा परिमित हो जाने से साहित्य पर भारी आघात होता है। वह बरबाद हो जाता है। भाषा मे दोष आ जाता है। जब कविता की प्रणाली बिगड जाती है तब उसका असर सारे ग्रन्थकारो पर पडता है। यही क्यो, सर्वसाधारण की बोल-चाल तक मे कविता के दोष आ जाते हैं। जिन शब्दो, जिन भावो, जिन उक्तियो का प्रयोग कवि करते है उन्ही का प्रयोग और लोग भी करने लगते है। भाषा और बोल-चाल के सम्बन्ध मे कवि ही प्रमाण माने जाते है। कवियो ही के प्रयुक्त शब्दो और मुहावरो को कोशकार अपने-अपने कोशो मे रखते है। मतलब यह है कि भाषा और बोल-चाल का बनाना या बिगाड़ना प्राय. कवियो ही के हाथ मे रहता है। जिस भाषा के कवि अपनी कविता मे बुरे शब्द और बुरे भाव भरते रहते है उस भाषा की उन्नति तो होती नही, उलटी अवनति होती जाती है।

कविता-प्रणाली के बिगड़ जाने पर यदि कोई नये तरह की स्वाभाविक कविता करने लगता है तो लोग उसकी निन्दा करते है। कुछ नासमझ और नादान आदमी कहते है, यह बड़ी भद्दी कविता है। कुछ कहते है, यह कविता ही नही। कुछ कहते है कि यह कविता तो "छन्दोदिवाकर" मे दिये गये लक्षणो से च्युत है, अतएव यह निर्दोष नही। बात यह है कि जिसे अब तक कविता कहते आये है वही उनकी समझ मे कविता है और सब कोरा काव-

काव ! इसी तरह की नुकता-चीनी मे तग आकर अग्रेजी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने अपनी कविता को सम्बोधन करके उसकी सान्त्वना की है। वह कहता है—"कविते ! यह बेकदरी का जमाना है। लोगो के चित्त को तेरी तरफ खीचना तो दूर रहा, उल्टी सब कही तेरी निन्दा होती है। तेरी बदौलत सभा-समाजो और जलसो मे मुझे लज्जित होना पडता है। पर जब मै अकेला होता हूँ तब तुझ पर मैं घमण्ड करता हूँ। याद रख, तेरी उत्पत्ति स्वाभाविक है। जो लोग अपने प्राकृतिक बल पर भरोसा रखते हैं वे निर्धन होकर भी आनन्द से रह सकते है। पर अप्राकृतिक बल पर किया गया गर्व कुछ दिन बाद जरूर चूर्ण हो जाता है।"

गोल्डस्मिथ ने इस विषय में बहुत कुछ कहा है, पर हमने उसके कथन का साराश बहुत ही थोडे शब्दो मे दे दिया है। इससे प्रकट है कि नई कविता-प्रणाली पर भ्रकुटी टेढी करने वाले कवि प्रकाण्डो के कहने की कुछ भी परवा न करके अपने स्वीकृत पथ से जरा भी इधर-उधर होना उचित नही। नई बातो से घबराना और उनके पक्ष-पातियो की निन्दा करना मनुष्य का स्वभाव ही सा हो गया है। अतएव नई भाषा और नई कविता पर यदि कोई नुकता-चीनी करे तो आश्चर्य नही।

आज कल लोगो ने कविता और पद्य को एक ही चीज समझ रक्खा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य मे वही भेद है जो अग्रेजी की पोयटरी (Poetry) और वर्स (Verse) मे है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है, और नियमानुसार तुली हुई सतरो का नाम पद्य है। जिस पद्य को पढने या सुनने से चित्त पर असर नही होता वह कविता नही। वह नपी-तुली शब्द स्थापनामात्र है। गद्य और पद्य दोनो मे कविता हो सकती है। तुकबन्दी और अनुप्रास कविता के लिए अपरिहार्य्य नही। सस्कृत का प्राय: सारा पद्य-समूह बिना तुकबन्दी का है और सस्कृत से बढकर कविता शायद ही किसी और भाषा मे हो। अरब मे भी सैकडो अच्छे-अच्छे कवि हो गये हैं। वहाँ भी शुरू-शुरू मे तुकबन्दी का बिलकुल ख्याल न था। अग्रेजी मे अनुप्रास-हीन बेतुकी कविता होती है। हाँ एक बात, जरूर है कि वजन और क़ाफ़िये से

कविता अधिक चित्ताकर्षक हो जाती है। पर कविता के लिये ये बाते ऐसी ही है जैसे कि शरीर के लिए वस्त्राभरण। यदि कविता का प्रधान धर्म मनोरजकता ओर प्रभावोत्पादकता उसमे न हो तो इनका होना निष्फल समझना चाहिए। पद्य के लिये काफिये वगैरह की जरूरत नही। कविता के लिए नही। कविता के लिये तो ये बाते एक प्रकार से उलटा हानिकारक है। तुले हुए शब्दो मे कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि ढूँढने से कवियो के विचार-स्वातन्त्र्य मे बडी बाधा आती है। पद्य के नियम कवि के लिये एक प्रकार की बेडिया है। उनसे जकड जाने से कवियो को अपने स्वाभाविक उड्डान मे कठिनाइयो का सामना करना पडता है। कवि का काम है कि वह अपने मनोभावो को स्वाधीनता-पूर्वक प्रकट करे। पर काफिया और वज़न उसकी स्वाधीनता मे विघ्न डालते है। वे उसे अपने भावो को स्वतन्त्रतापूर्वक नही प्रकट होने देते। काफिये और वज़न को पहले ढूँढकर कवि को अपने मनोभाव तदनुकूल गढने पडते है। इसका मतलब यह हुआ कि प्रधान बात अप्रधानता को प्राप्त हो जाती है और एक बहुत ही गौण बात प्रधानता के आसन पर जा बैठती है। इससे कवि अपने भाव स्वतन्त्रतापूर्वक नही प्रकट कर सकता। फल यह होता है कि कवि की कविता का असर कम हो जाता है। कभी-कभी तो वह बिलकुल ही जाता रहता है। अब आप ही कहिए कि जो वज़न और काफिया कविता के लक्षण का कोई अश नही उन्हे ही प्रधानता देना भारी भूल है या नही?

जो बात एक असाधारण और निराले ढग से शब्दो के द्वारा इस तरह प्रकट की जाय कि सुनने वाले पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर पडे, उसी का नाम कविता है। आज-कल हिन्दी मे जो सज्जन पद्य रचना करते है और उसे कविता समझकर छपाने दौड़ते है उनको यह बात जरूर याद रखनी चाहिए। इन पद्य-रचयिताओ में कुछ ऐसे भी है जो अपने पद्यो को कालिदास, होमर और बाइरन की कविता से भी बढकर समझते है। यदि कोई सम्पादक उन्हे प्रकाशित करने से इनकार करता है तो वे अपना अपमान समझते है और बेचारे सम्पादक के खिलाफ नाटक, प्रहसन और व्यग-पूर्ण लेख प्रकाशित करके अपने जी की जलन शान्त करते है। वे इस बात को बिलकुल ही भूल जाते है कि यदि उनकी पद्य-

रचना अच्छी हो तो कौन ऐसा मूर्ख होगा जो उसे अपने पत्र या पुस्तक मे सहर्ष और सधन्यवाद न प्रकाशित करेगा ?

कवि का सबसे बडा गुण नई-नई बातो का सूझना है। उसके लिये कल्पना (Imagination) की बडी जरूरत है। जिसमे जितनी ही अधिक यह शक्ति होगी वह उतनी ही अधिक अच्छी कविता लिख सकेगा। कविता के लिये उपज चाहिए। नये-नये भावो की उपज जिसके हृदय मे नही वह कभी अच्छी कविता नही लिख सकता। ये बाते प्रतिभा की बदौलत होती हैं। इसीलिए सस्कृत वालो ने प्रतिभा को प्रधानता दी है। प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है। अभ्यास से वह नही प्राप्त होती है। इस शक्ति को कवि माँ के पेट से लेकर पैदा होता है। इसी की बदौलत वह भूत और भविष्यत् को हस्तामलकवत् देखता है, वर्तमान की तो कोई बात ही नही। इसी की कृपा से वह सासारिक बातो को एक अजीब निराले ढङ्ग से बयान करता है, जिसे सुनकर सुनने वाले के हृदयोदधि मे नाना प्रकार के सुख, दु ख, आश्चर्य आदि विकारो की लहरे उठने लगती है। कवि कभी-कभी ऐसी अद्भुत बाते कह देते हैं कि जो कवि नही है उनकी पहुँच वहाँ तक कभी हो ही नही सकती।

कवि का काम है कि वह प्रकृति-विकास को खूब ध्यान से देखे। प्रकृति की लीला का कोई ओर-छोर नही। वह अनन्त है। प्रकृति अद्भुत खेल खेला करती है। एक छोटे से फूल मे वह अजीब-अजीब कौशल दिखाती है। वे साधारण आदमियो के ध्यान मे नही आते। वे उनको समझ नही सकते। पर कवि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से प्रकृति के कौशल अच्छी तरह देख लेता है, उनका वर्णन भी करता है, उनसे नाना प्रकार की शिक्षा भी ग्रहण करता है, और अपनी कविता के द्वारा ससार को लाभ पहुँचाता है। जिस कवि मे प्राकृतिक दृश्य और प्रकृति के कौशल देखने और समझने का जितना ही अधिक ज्ञान होता है वह उतना ही बडा कवि भी होता है।

प्रकृति-पर्य्यालोचना के सिवा कवि को मानव-स्वभाव की आलोचना का भी अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य अपने जीवन मे अनेक प्रकार से सुख, दु ख

आदि का अनुभव करता है। उसकी दशा कभी एक-सी नही रहती। अनेक प्रकार के विकार तरग उसके मन मे उठा ही करते है। इन विकारो की जॉच, ज्ञान और अनुभव करना सबका काम नही। केवल कवि ही इनके अनुभव करने और कविता द्वारा औरो को इनका अनुभव कराने मे समर्थ होता है। जिसे कभी पुत्र-शोक नही हुआ उसे उस शोक का यथार्थ ज्ञान होना सम्भव नही। पर यदि वह कवि है तो वह पुत्र-शोकाकुल पिता या माता की आत्मा मे प्रवेश-सा करके उसका अनुभव कर लेता है। उस अनुभव का वह इस तरह वर्णन करता है कि सुनने वाला तन्मनस्क होकर उस दु ख से अभिभूत हो जाता है। इससे उसे ऐसा मालूम होने लगता है कि स्वय उसी पर वह दु ख पड रहा है। जिस कवि को मनोविकारो और प्राकृतिक बातो का यथेष्ट ज्ञान नही वह कदापि अच्छा कवि नहीं हो सकता।

हाली के मुकद्दमे को पढ कर हमारे एक मित्र महाशय ने कुछ अलकारशास्त्र के आचार्यो की राय लिखी है और सक्षेपतया यह दिखलाया है कि हमारे आलकारिको ने कविता के लिये किन-किन बातो की जरूरत समझी है। आपके कथन का आशय हम नीचे देते है। पाठक देखेगे कि हाली की राय सस्कृत-साहित्य के आचार्यो से बहुत कुछ मिलती है। सुनिये—

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतंच बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्या कारण काव्यसम्पदः॥

(आचार्य दण्डी—काव्यादर्श)

अर्थात् स्वाभाविकी प्रतिभा अर्थात् शक्ति (१) शब्दशास्त्रादि तथा लोकाचारादि का विशुद्ध ज्ञान (२) और प्रगाढ अभ्यास (३) यह सब मिलाकर काव्य-रूप सम्पत्ति का कारण है—"श्रुत" शब्द के अर्थ पडित जीवानन्द विद्यासागर ने ये किये हैं—"श्रुत" शास्त्रज्ञान लोकाचारादिज्ञानच। सृष्टि-कार्य और मानव-स्वभाव इन दोनो के ज्ञान का बोधक लोकाचारादि ज्ञान है। उसका उल्लेख हाली ने अपनी दूसरी और तीसरी शर्त "सृष्टि-कार्य पर्यालोचना" और "शब्दविन्यास-चातुर्य" मे किया है। प्रगाढ अभ्यास की आवश्यकता हाली ने "आमद और आवुर्द मे फ़र्क"—इस विषय पर बहस करते हुए सिद्ध की है।

इसी अभिप्राय का एक श्लोक यह भी है—

शक्तिर्निपुणतः लोकशास्त्रकार्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।।

अर्थात् प्रतिभाशक्ति, काव्यादि शास्त्र तथा लोकाचारादि के अवलोकन से प्राप्त हुई निपुणता और काव्यो की शिक्षा के अनुसार अभ्यास, ये तीनो बाते कविता के उद्भव मे हेतु है । कई आचार्यो ने प्रतिभा को ही काव्य का कारण मानकर व्युत्पत्ति को उसकी सुन्दरता और अभ्यास की वृद्धि का हेतु माना है तथा—

कवित्वं जायते शक्तेर्वर्द्धतेऽभ्यासयोगतः ।
तस्य चारुत्वनिष्पत्तौ व्युत्पत्तिस्तु गरीयसी ।।

इस मत की पुष्टि भी हाली के उस लेख से होती है जो उन्होंने सबसे पहली शर्त "तखय्युल" (प्रतिभा) पर लिखा है ।

इन्ही सब बातो को हाली ने अपने-अपने मुकद्दमे मे, ३७ से ५४ पृष्ठ तक, उदाहरणादिको से पल्लवित किया है ।

सृष्टि कार्य-निरीक्षण की आवश्यकता कवि को क्यो है ? इस बात का हाली ने "मसनवी" पर बहस करते हुए, एक उदाहरण द्वारा समझाया है । वे लिखते है—

... इसी प्रकार किस्से मे ऐसी छोटी-छोटी प्रासगिक बातो का बयान करना, जिन्हे तजुरबा और मुशाहिदा झुटलाते हो, कदापि उचित नही । इससे आख्यायिकाकार का इतना बेसलीकापन साबित नही होता, जितनी उसकी अज्ञता और लोकवृत्तान्त से अनभिज्ञता, या जरूरी अनुभव प्राप्त करने से बेपरवाही साबित होती है । जैसा कि "बदरे मुनीर" मे एक खास मौके और वक्त का समा इस तरह बयान किया है ।

वो गाने का आलम वो हुस्ने बुता,
वो गुलशन की खूबी वो दिन का समां ।
दरख्तो की कुछ छाँव और कुछ वो धूप,
वो धानो की सब्जी वो सरसो का रूप ।।

आखिर मिसरे से यह साफ प्रतीत होता है कि एक तरफ धान खडे थे और एक तरफ सरसो फूल रही थी। मगर यह बात वाके के खिलाफ है, क्योकि धान खरीफ मे होते हैं और सरसो रबी मे गेहुओ के साथ बोई जाती है।

कवि-कुल-गुरु कालिदास के विश्व-विख्यात काव्य, तथा कविवर बिहारी लाल की सतसई से, इसी विषय का, एक-एक प्रत्युदाहरण सुनिए—

इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम् ।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥

—रघुवश ॥

रघु की दिग्विजयार्थ यात्रा के उपोद्घात मे शरदृतु का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि ईख की छाया मे बैठी हुई धान रखाने वाली स्त्रियाँ रघु का यश गाती थी। शरत्-काल मे जब धान के खेत पकते है तब वह इतनी वडी हो जाती है कि उसकी छाया मे बैठकर खेत रखा सके। ईख और धान के खेत भी प्राय. पास ही पास हुआ करते है। कवि को ये सब बाते विदित थी। श्लोक मे इस दशा का—इस वास्तविक घटना का चित्र सा खीच दिया गया है। श्लोक पढते ही वह समा आँखो मे फिरने लगता है।

महाराजाधिराज विक्रमादित्य के सखा, राजसी ठाठ से रहने वाले कालिदास ने गरीब किसानो की, नगर से दूर, जगल से सम्बन्ध रखने वाली एक वास्तविक घटना का कैसा मनोहर चित्र उतारा है। यह उनके प्रकृति पर्यालोचक होने का दृढ प्रमाण है। दूसरा प्रत्युदाहरण—

सन सूक्यौ बित्यो बनौ ऊखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहर अजौं धर धर हर हिय नारि ॥

—सतसई

पहले सन सूखता है, फिर बन-बाडी या कपास के खेत की बहार खतम होती है। पुन ईख के उखाडने की बारी आती है और इन सबसे पीछे गेहुँओ के साथ तक अरहर हरी-भरी खडी रहती है।

ये सब बाते कवि ने कैसे सुन्दर और सरल ढग से क्रम-पूर्वक इस दोहे मे बयान की हैं। इसमे अनुप्रास की छटा आदि अन्य काव्य-गुणो पर ध्यान दिलाने का यह अवसर नही। यहाँ तक पूर्वोक्त महाशय की राय हुई।

कविता का प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उचित शब्द–स्थापना की भो बडी जरूरत है। किसी मनो-विकार के दृश्य के वर्णन मे ढूँढ-ढूँढ कर ऐसे शब्द रखने चाहिए जो सुनने वाले की आँखो के सामने वर्ण्य-विषय का चित्र सा खीच दे। मनोभाव चाहे कैसा ही अच्छा क्यो न हो, यदि वह तदनुकूल शब्दो मे न प्रकट किया गया तो उसका असर यदि जाता नही रहता तो कम जरूर हो जाता है। इसीलिए कवि को चुन-चुन कर ऐसे शब्द रखने चाहिए और इस क्रम से रखने चाहिए, जिससे उसके मन का भाव पूरे तौर पर व्यक्त हो जाय। उसमे कसर न पडे। मनोभाव शब्दो ही के द्वारा व्यक्त होता है। अतएव युक्तिसगत शब्द-स्थापना के बिना कवि की कविता तादृश हृदय-हारिणी नही हो सकती। जो कवि अच्छी शब्द-स्थापना करना नही जानता, अथवा यो कहिए कि जिसके पास काफी शब्द-समूह नही है, उसे कविता करने का परिश्रम नही करना चाहिए। जो सुकवि है उन्हे एक-एक शब्द की योग्यता ज्ञात रहती है। वे खूब जानते हैं कि किस शब्द मे क्या प्रभाव है। अतएव जिस शब्द मे उनका भाव प्रकट करने की एक बाल भर की कमी होती है, उसका वे कभी प्रयोग नही करते। आज कल के पद्य-रचना कर्त्ता महाशयो को इस बात का बहुत कम ख्याल रहता है। इसी से उनकी कविता, यदि अच्छे भाव से भरी हुई भी हो तो भी, बहुत कम असर पैदा करती है। जो कवि प्रति पक्ति मे, निरर्थक 'सु,' 'जु' और 'रु' का प्रयोग करता है वह मानो इस बात का खुद ही सर्टीफिकेट दे रहा है कि मेरे अधिकृत शब्द-कोश मे शब्दो की कमी है। ऐसे कवियो की कविता कदापि सर्वसम्मत और प्रभावोत्पादक नही हो सकती।

अग्रेजी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कविता के तीन गुण वर्णन किये है। उनकी राय है कि कविता सादी हो, जोश से भरी हुई हो, और असलियत से गिरी हुई न हो।

सादगी से यह मतलब नही कि सिर्फ शब्द-समूह ही सादा हो, किन्तु विचार परम्परा भी सादी हो। भाव और विचार ऐसे सूक्ष्म और छिपे हुए न हो कि उनका मतलब समझ मे न आवे, या देर से समझ मे आवे। यदि कविता मे कोई ध्वनि हो तो इतनी दूर की न हो जो उसे समझने मे गहरे विचार की

जरूरत हो। कविता पढने या सुनने वाले को ऐसी साफ-सुथरी सडक मिलनी चाहिए जिस पर कङ्कड, पत्थर, टीले, खन्दक काटे और झाडियो का नाम न हो। वह खूब साफ और हमवार हो, जिससे उस पर चलने वाला आराम से चला जाय। जिस तरह सडक जरा भी ऊँची-नीची होने से बाइसिकिल (पैरगाडी) के सवार को दचके लगते हैं उसी तरह कविता की सडक यदि थोडी भी नाहमवार हुई तो पढने वाले के हृदय पर धक्का लगे बिना नही रहता कविता-रूपी सडक के इधर-उधर स्वच्छ पानी के नदी नाले बहते हो, दोनो तरफ फलो-फूलो से लदे हुए पेड हो, जगह-जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान बने हो, प्राकृतिक दृश्यो की नई-नई झाकियाँ आँखो को लुभाती हो। दुनिया मे आजतक जितने अच्छे-अच्छे कवि हुए है उनकी कविता ऐसी ही देखी गई है। अटपटे भाव और अटपटे शब्द प्रयोग करने वाले कवियो की कभी कद्र नही हुई। यदि कभी किसी की कुछ हुई भी है तो थोडे ही दिनो तक। ऐसे कवि विस्मृति के अन्धकार मे ऐसे छिप गये हैं कि इस समय उनका कोई नाम तक नही जानता। एक मात्र सूखी शब्द-झकार ही जिन कवियो की करामात है उन्हे चाहिए कि वे एकदम ही बोलना बन्द कर दे।

भाव चाहे कैसा ही ऊँचा क्यो न हो, पेचीदा न होना चाहिए। वह ऐसे शब्दो के द्वारा प्रकट किया जाना चाहिए जिनसे सव लोग परिचित हो। मतलब यह कि भाषा बोल-चाल की हो। क्योकि कविता की भाषा बोल-चाल से जितनी ही अधिक दूर जा पडती है उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोल-चाल से मतलब उस भाषा से है जिसे खास और आम सब बोलते है, विद्वान् और अविद्वान दोनो जिसे काम मे लाते है। इसी तरह कवि को मुहाविरे का भी ख्याल रखना चाहिए। जो मुहाविरा सर्व सम्मत है उसी का प्रयोग करना चाहिए। हिन्दी और उर्दू मे कुछ शब्द अन्य भाषाओ के भी आ गये हैं। वे यदि बोल-चाल के हैं तो उनका प्रयोग सदोष नही माना जा सकता उन्हे त्याज्य नही समझना चाहिए। कोई-कोई ऐसे शब्दो को उनके मूल-रूप मे लिखना ही सही समझते है। पर यह उनकी भूल है। जब अन्य भाषा का कोई शब्द किसी और भाषा मे आ जाता है तब वह उसी भषा का हो जाता है।

अतएव उसे उसकी मूल भाषा के रूप मे लिखते जाना भाषा-विज्ञान के नियमो के खिलाफ है। खुद 'मुहावरह' शब्द ही को देखिए । जब उसे अनेक लोग हिन्दी मे 'मुहावरा' लिखने और बोलने लगे तब उसका असली रूप जाता रहा। वह हिन्दी का शब्द हो गया। यदि अन्य भाषाओ के बहुत-प्रयुक्त शब्दो का मूल रूप ही शुद्ध माना जायगा तो घर, घडा, हाथ, पाव, नाक, कान, गश, मुमलमान कुरान, मैगजीन, एडमिरल, लालटेन आदि शब्दो को भी उनके पूर्व रूप मे ले जाना पडेगा। एशियाटिक सोसाइटी के जनवरी १९०७ के जर्नल मे फ्रेच और अग्रेजी आदि यूरोपियन भाषाओ के १३८ शब्द ऐसे दिये गये है जो फारस के फारमी अखबारो मे प्रयुक्त है। इनमे से कितने ही शब्दो का रूपान्तर हो गया है। अब यदि इस तरह के शब्द अपने मूल-रूप मे लिखे जायगे तो भाषा मे बेतरह गडबड पैदा हो जायगी।

असलियत से मतलब यह नही कि कविता एक प्रकार का इतिहास समझा जाय और हर बात मे सचाई का ख्याल रखा जाय। यह नही कि सचाई की कसौटी पर कसने पर यदि कुछ भी कसर मालूम हो तो कविता का कवितापन जाता रहे। असलियत से सिर्फ इतना ही मतलब है कि कविता बेबुनियाद न हो उसमे जो उक्ति हो वह मानवी मनोविकारो और प्राकृतिक नियमो के आधार पर कही गई हो। स्वाभाविकता से उसका लगाव न छूटा हो। कवि यदि अपनी या और किसी की तारीफ करने लगे और यदि वह उसे सचमुच ही सच समझे, अर्थात् यदि उसकी भावना वैसी ही हो, तो वह भी असलित से खाली नही, फिर चाहे और लोग उसे उलटा ही क्यो न समझते हो। परन्तु इन बातो मे भी स्वाभाविकता से दूर न जाना चाहिए क्योकि स्वाभाविक अर्थात् नेचुरल (Natural) उक्तियाँ ही सुनने वाले के हृदय पर असर कर सकती है, अस्वाभाविक नही। असलियत को लिए हुए कवि स्वतन्त्रतापूर्वक जो चाहे कह सकता है, असल बात को एक नये साँचे मे ढालकर कुछ दूर तक इधर-उधर भी उडान कर सकता है, पर अमलियत के लगाव को वह नही छोडता। असलियत को हाथ से जाने देना मानो कविता को प्राय· निर्जीव कर डालना है। शब्द और अर्थ दोनो ही के सम्बन्ध मे उसे स्वाभाविकता का अनुधावन करना

चाहिए। जिस बात के कहने मे लोग स्वाभाविक रीति पर, जैसे और जिस क्रम से शब्द-प्रयोग करते है वैसे ही कवि को भी करना चाहिए। कविता मे उसे कोई बात ऐसी न कहनी चाहिए जो दुनियाँ मे न होती हो। जो बातें हमेशा हुआ करती है, अथवा जिन बातो का होना सम्भव है, वही स्वाभाविक है। अर्थ की स्वाभाविकता से मतलब ऐसी ही बातो से है। हम इन बातो को उदाहरण देकर अधिक स्पष्ट कर देते, पर लेख बढ जाने के डर से वैसा नही करते।

जोश से यह मतलब है कि कवि जो कुछ कहे इस तरह कहे मानो उनके प्रयुक्त शब्द आप ही आप उसके मुँह से निकल गये है। उनसे बनावट न जाहिर हो। यह न हो कि कवि ने कोशिश करके ये बाते कही हैं, किन्तु यह मालूम हो कि उसके हृद्गत भावो ने कविता के रूप मे अपने को प्रकट कराने के लिए उसे विवश किया है। जो कवि है उसमे जोश स्वाभाविक होता है। वर्ण्य वस्तु को देखकर, किसी अदृश्य-शक्ति की प्रेरणा से, वह उस पर कविता करने के लिए विवश-सा हो जाता है। उसमे एक अलौकिक शक्ति पैदा हो जाती है। इसी शक्ति के बल से वह सजीव नही निर्जीव चीजो तक का वर्णन ऐसे प्रभावोत्पादक ढग से करता है कि यदि उन चीजो मे बोलने की शक्ति होती तो खुद वे भी उससे अच्छा वर्णन न कर सकती। जोश से यह भी मतलब नही कि कविता के शब्द खूब जोरदार और जोशीले हो। सम्भव है, शब्द जोरदार न हो, पर जोश उनमे छिपा हुआ हो। धीमे शब्दो मे भी जोश रह सकता है। परन्तु ऐसे शब्दो का प्रयोग करना ऐसे-वैसे कवि का काम नही। जो लोग मीठी छुरी से तेज तलवार का काम लेना जानते हैं वही धीमे शब्दो मे जोश भर सकते हैं।

सादगी, असलियत और जोश यदि ये तीनो गुण कविता मे हो तो कहना ही क्या है। परन्तु बहुधा अच्छी कविता मे भी इन मे से एक आध गुण की कमी पाई जाती है। कभी-कभी देखा जाता है कि कविता मे केवल जोश रहता है, सादगी और असलियत नही। परन्तु बिना असलियत के जोश का होना

बहुत कठिन है। अतएव कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए।

अच्छी कविता की सबसे बडी परीक्षा यह है कि उसे सुनते ही लोग बोल उठे कि सच कहा। वही कवि सच्चे कवि है जिनकी कविता सुनकर लोगो के मुंह से सहसा यह उक्ति निकलती है। ऐसे कवि धन्य है, और जिस देश में ऐसे कवि पैदा होते है वह देश भी धन्य है। ऐसे ही कवियो की कविता चिरकाल तक जीवित रहती है।

पूर्ण सिंह
(१९३८-१९८८)

५

सच्ची वीरता

सच्चे वीर पुरुष धीर, गभीर और आजाद होते है। उनके मन की गभीरता और शाति समुद्र की तरह विशाल और गहरी, या आकाश की तरह स्थिर और अचल होती है। वे कभी चचल नही होते। रामायण मे वाल्मीकिजी ने कुभकर्ण की गाढ़ी नीद मे वीरता का एक चिन्ह दिखलाया है। सच है, सच्चे वीरो की नीद आसानी से नही खुलती। वे सत्व गुण के क्षीर-समुद्र मे ऐसे डूबे रहते है कि उनको दुनिया की खबर ही नही होती। वे ससार के सच्चे परोप कारी होते हैं। ऐसे लोग दुनिया के तख्ते को अपनी आँख की पलको से हलचल मे डाल देते हैं। जब ये शेर जागकर गरजते है, तब सदियो तक इनकी आवाज की गूँज सुनाई देती रहती है, और सब आवाजे बन्द हो जाती है वीर की चाल की आहट कानो मे आती रहती है और कभी मुझे और कभी तुझे मदमत्त करती है। कभी-किसी की और कभी किसी की प्राण-सारगी वीर के हाथ से बजने लगती है।

देखो हरा की कदरा मे एक अनाथ, दुनिया से छिपकर, एक अजीब नीद सोता है। जैसे गली मे पडे हुए पत्थर की ओर कोई ध्यान नही देता, वैसे ही आम आदमियो की तरह इस अनाथ को कोई न जानता था। एक उदारहृदया धन-सम्पन्न स्त्री की वह नौकरी करता है। उसकी सासारिक प्रतिष्ठा सिर्फ एक मामूली गुलाम की-सी है। पर कोई ऐसा दैवी कारण हुआ जिससे ससार मे अज्ञात उस गुलाम की बारी आई। उसकी निद्रा खुली। ससार पर मानो हजारो बिजलियाँ गिरी। अरब के रेगिस्तान मे बारूद की-सी भडक उठी। उसी वीर की आँखो की ज्वाला इन्द्रप्रस्थ से लेकर स्पेन तक प्रज्वलित हुई। उस अज्ञात

और गुप्त हरा की कदरा मे सोने वाले ने एक आवाज दी। सारी पृथ्वी भय से कॉपने लगी। हॉ, जब पैगम्बर मुहम्मद ने 'अल्लाहो अकबर' का गीत गाया तब कुल ससार चुप हो गया। और कुछ देर बाद प्रकृति उसकी आवाज की गूँज को सब दिशाओ मे ले उडी। पक्षी 'अल्लाह' गाने लगे और मुहम्मद के पैगाम को इधर-उधर ले उडे। पर्वत उसकी वाणी को सुनकर पिघल पडे और नदियाँ 'अल्लाह-अल्लाह' का आलाप करती हुई पर्वतो से निकल पडी। जो लोग उसके सामने आये वे उसके दास बन गए। चन्द्र और सूर्य ने बारी-बारी से उठकर सलाम किया। उस वीर का बल देखिये कि सदियो के बाद भी ससार के लोगो का बहुत-सा हिस्सा उसके पवित्र नाम पर जीता है और अपने छोटे-से जीवन को अति तुच्छ समझ कर उस अनदेखे और अज्ञात पुरुष के, सुने-सुनाये, नाम पर कुर्बान हो जाना अपने जीवन का सबसे उत्तम फल समझता है।

सत्वगुण के समुद्र मे जिनका अन्त करण निमग्न हो गया वे ही महात्मा, साधु और वीर हैं। वे लोग अपने क्षुद्र जीवन को परित्याग कर ऐसा ईश्वरीय जीवन पाते है कि उनके लिये ससार के सब अगम्य मार्ग साफ हो जाते है। आकाश उनके ऊपर बादलो के छाते लगाता है। प्रकृति उनके मनोहर माथे पर राजतिलक लगाती है। हमारे असली और सच्चे राजा ये ही साधु पुरुष है। हीरे और लाल से जडे हुए, सोने और चाँदी से जर्क-बर्क सिहासन पर बैठने-वाले दुनिया के राजाओ को तो, जो गरीब किसानो की कमाई हुई दौलत पर पिंडोपजीवी होते हैं, लोगो ने अपनी मूर्खता से वीर बना रखा है। ये जरी मखमल और जेवरो से लदे हुए माँस के पुतले तो हरदम कॉपते रहते हैं। इन्द्र के समान ऐश्वर्यवान् और बलवान् होने पर भी दुनिया के ये छोटे 'जार्ज' बडे कायर होते हैं। क्यो न हो, इनकी हुकूमत लोगो के दिलो पर नही होती। दुनिया के राजाओ के बल की दौड लोगो के शरीर तक है। हाँ जब कभी किसी अकबर का राज लोगो के दिलो पर होता है। तब इन कायरो की बस्ती मे मानो एक सच्चा वीर पैदा होता है।

एक बागी गुलाम और एक बादशाह की बातचीत हुई। यह गुलाम कैदी, दिल से आजाद था। बादशाह ने कहा—मैं तुमको अभी जान से मार डालूंगा।

तुम क्या कर सकते हो ? गुलाम बोला—"हाँ मैं, फाँसी पर तो चढ जाऊँगा, पर तुम्हारा तिरस्कार तब भी कर सकता हूँ ।" बस इस गुलाम ने दुनिया के बादशाहो के बल की हद दिखला दी । वस, इतने ही जोर, इतनी ही शेखी पर ये झूठे राजा शरीर को दु ख देते और मार-पीटकर अनजान लोगो को डराते हैं ! भोले लोग उनसे डरते रहते है । चूँकि सब लोग शरीर को अपने जीवन का केन्द्र समझते है, इसलिए जहाँ किसी ने उनके शरीर पर जरा जोर से हाथ लगाया वही वे मारे डर के अधमरे हो जाते है, केवल शरीर-रक्षा के निमित्त ये लोग इन राजाओ की ऊपरी मन से पूजा करते है । जैसे ये राजा वैसा उनका सत्कार ! जिनका बल शरीर को जरा-सी रस्सी से लटका कर मार देने भर ही का है, भला, उनका और उन बलवान् और सच्चे राजाओ का क्या मुकाबला। जिनका सिहासन लोगो के हृदय-कमल की पँखडियो पर है । सच्चे राजा अपने प्रेम के जोर से लोगो के दिलो को सदा के लिये बाँध देते है । दिल्ली पर हुकूमत करने वाली फौज, तोप, बन्दूक आदि के बिना ही वे शाहशाह-जमाना होते है । मसूर ने अपनी मौज मे आकर कहा—"मैं खुदा हूँ ।" दुनिया के बादशाह ने कहा—"यह काफिर है ।" मगर मसूर ने अपने कलाम को बन्द न किया । पत्थर मार-मारकर दुनिया ने उसके शरीर की बुरी दशा की, परन्तु उस मर्द के हर बाल से ये ही शब्द निकले—"अनलहक" "अह ब्रह्मास्मि" "मैं ही ब्रह्म हूँ" शूली पर चढना मसूर के लिए सिर्फ खेल था । बादशाह ने समझा कि मसूर मारा गया ।

शम्स तबरेज को भी ऐसा ही काफिर समझकर बादशाह ने हुक्म दिया कि इसकी खाल उतार दो । शम्स ने खाल उतारी और बादशाह को, दर्वाजे पर आए हुए कुत्ते की तरह भिखारी समझकर, वह खाल खाने के लिए दे दी । देकर वह अपनी यह गज़ल बराबर गाता रहा—"भीख माँगने वाला तेरे दर्वाजे पर आया है, ऐ शाहे दिल ! कुछ इसको दे दो ।" खाल उतार कर फेक दी ! वाह रे सत्पुरुष !

भगवान् शकर जब गुजरात की तरफ यात्रा कर रहे थे तब एक कापालिक हाथ जोडे सामने आकर खडा हुआ । भगवान् ने कहा—"माँग, क्या माँगता

है ?" उसने कहा—"हे भगवान्, आजकल के राजा बडे कगाल है। उनसे अब हमे दान नही मिलता। आप ब्रह्मज्ञानी और सबसे बडे दानी है, इसलिए मैं आपके पास आया हूँ। आप कृपा करके मुझे अपना सिर दान करे जिसकी भेट चढाकर मैं अपनी देवी को प्रसन्न करूँगा और अपना यज्ञ पूरा करूँगा।" भगवान् ने मौज मे आकर कहा—"अच्छा, कल यह सिर उतारकर ले जाना और काम सिद्ध कर लेना।"

एक दफे दो वीर पुरुष अकबर के दर्बार मे आए। वे लोग रोजगार की तलाश मे थे। अकबर ने कहा—"अपनी-अपनी वीरता का सुबूत दो।" बादशाह ने कैसी मूर्खता की। वीरता का भला क्या सुबूत देते ? परन्तु दोनो ने तलवार निकाल ली और एक दूसरे के सामने कर उनकी तेज धार पर दौड गए और वही राजा के सामने क्षण भर मे अपने खून मे ढेर हो गए।

ऐसे दैवी वीर रुपया, पैसा, माल, धन का दान नही दिया करते। जब वे दान देने की इच्छा करते है तब अपने आपको हवन कर देते हैं। बुद्ध महाराज ने जब एक राजा को मृग मारते देखा तब अपना शरीर आगे कर दिया जिससे मृग बच जाय, बुद्ध का शरीर चाहे चला जाय। ऐसे लोग कभी बडे मौको का इन्तजार नही करते; छोटे मौको को ही बडा बना देते है।

जब किसी का भाग्योदय हुआ और उसे जोश आया तब जान लो कि संसार मे एक तूफान आ गया। उसकी चाल के सामने फिर कभी रुकावट नही आ सकती। पहाडो की पसलियाँ तोडकर ये लोग हवा के बगोले की तरह निगल जाते है, उनके बल का इशारा भूचाल देता है और उनके दिल की हरकत का निशान समुद्र का तूफान देता है। कुदरत की और कोई ताकत उनके सामने फटक नही सकती। सब चीजे धस जाती है। विधाता भी साँस रोककर उनकी राह को देखता है। यूरोप मे जब रोम के पोप का जोर बहुत बढ गया था तब उसका मुकाबला कोई भी बादशाह न कर सकता था। पोप की आँखो के इशारे से यूरोप के बादशाह तख्त से उतार दिए जा सकते थे। पोप का सिक्का यूरोप के लोगो पर ऐसा बैठ गया था कि उसकी बात को लोग ब्रह्म-वाक्य से भी बढकर समझते थे और पोप को ईश्वर का प्रतिनिधि मानते थे।

लाखो ईसाई साधु-सन्यासी और यूरोप के तमाम गिर्जे पोप के हुक्म की पाबन्दी करते थे। जिस तरह चूहे की जान बिल्ली के हाथ होती है उसी तरह पोप ने यूरोपवासियो की जान अपने हाथ मे कर ली थी। इस पोप का बल और आतक बडा भयानक था। मगर जर्मनी के एक छोटे से एक मदिर के एक कगाल या पादरी की आत्मा जल उठी। पोप ने इतनी लीला फैलाई थी कि यूरोप मे स्वर्ग और नरक के टिकट बडे-बडे दामो पर बिकते थे। टिकट बेच-बेचकर यह पोप बडा विषयी हो गया था। लूथर के पास जब टिकट बिक्री होने को पहुँचे तब उसने पहले एक चिट्ठी लिखकर भेजी कि ऐसे काम झूठे तथा पापमय है और बद होने चाहिए। पोप ने इसका जवाब दिया— "लूथर ! तुम इस गुस्ताखी के बदले आग मे जिदा जला दिए जाओगे।" इस जवाब से लूथर की आत्मा की आग और भी भडकी। उसने लिखा—"अब मैने अपने दिल मे निश्चय कर लिया है कि तुम ईश्वर के तो नही शैतान के प्रतिनिधि हो। अपने आप को ईश्वर के प्रतिनिधि कहनेवाले मिथ्यावादी ! जब मैने तुम्हारे पास सत्यार्थ का सदेश भेजा तब तुमने आग और जल्लाद के नामो से जवाब दिया। इससे साफ प्रतीत होता है कि तुम शैतान की दलदल पर खडे हो, न कि सत्य की चट्टान पर। यह लो तुम्हारे टिकटो के गट्ठे मैने आग मे फेके। जो मुझे करना था मैंने कर दिया, जो अब तुम्हारी इच्छा हो, करो। मैं सत्य की चट्टान पर खडा हूँ।" इस छोटे से सन्यासी ने वह तूफान यूरोप मे पैदा कर दिया जिसकी एक लहर से पोप का सारा जगी बेड़ा चकनाचूर हो गया। तूफान मे एक तिनके की तरह वह न मालूम कहाँ उड गया।

महाराज रणजीतसिह ने फौज से कहा—"अटक के पार जाओ।" अटक चढी हुई थी और भयकर लहरे उठी हुई थी। जब फौज ने कुछ उत्साह प्रकट न किया तब उस वीर को जरा जोश आया। महाराज ने अपना घोडा दरिया मे डाल दिया। कहा जाता है कि अटक सूख गई और सब पार निकल गए।

दुनिया मे जग के सामान जमा हैं। लाखो आदमी मरने-मारने को तैयार हो रहे है। गोलियाँ पानी की बूँदो की तरह मूसलाधार बरस रही है। यह

देखो, वीर को जोश आया। उसने कहा—"हाल्ट" (ठहरो)। तमाम फौज नि स्तब्ध होकर सकते की हालत मे खडी हो गई। आल्प्स के पहाडो पर फौज ने चढना ज्यो ही असभव समझा त्यो ही वीर ने कहा—"आल्प्स है ही नही।" फौज को निश्चय हो गया कि आल्प्स नही है और सब लोग पार हो गए।

एक भेड चरानेवाली और सतोगुरा मे डूबी हुई युवती कन्या के दिल मे जोश आते ही कुल फ्रास एक भारी शिकस्त से बच गया।

अपने आप को हर घडी और हर पल महान् बनाने का काम वीरता है। वीरता के कारनामे तो एक गौण बात हैं। असल वीर तो इन कारनामो को अपनी दिनचर्या मे लिखते भी नही। पेड तो ज़मीन से रस ग्रहण करने मे लगा रहता है। उसे यह ख्याल ही नही होता कि मुझमे कितने फल या फूल लगेंगे और कब लगेंगे। उसका काम तो अपने आपको सत्य मे रखना है—सत्य को अपने अदर कूट-कूटकर भरना है और अदर-ही-अदर बढना है। उसे इस चिंता से क्या मतलब कि कौन मेरे फल खायगा या मैंने कितने फल लोगो को दिए।

वीरता का विकास नाना प्रकार से होता है। कभी तो उसका विकास लडने-मरने मे, खून बहाने मे, तलवार-तोप के सामने जान गँवाने मे होता है, कभी प्रेम के मैदान मे उसका झडा खडा होता है। कभी जीवन के गूढ तत्व और सत्य की तलाश मे बुद्ध जैसे राजा विरक्त होकर वीर हो जाते हैं। कभी किसी आदर्श पर और कभी किसी पर वीरता अपना फरहरा लहराती है। परन्तु वीरता एक प्रकार का इलहाम या दैवी प्रेरणा है। जब कभी इसका विकास हुआ तभी एक नया कमाल नजर आया, एक नया जलाल पैदा हुआ, एक नई रौनक, एक नया रग, एक नई बहार, एक नई प्रभुता ससार मे छा गई। वीरता हमेशा निराली और नई होती है। नयापन भी वीरता का एक खास रग है। हिंदुओं के पुराणो की वह आलकारिक कल्पना, जिससे पुराण-कारो ने ईश्वरावतारो को अजीब-अजीब और भिन्न-भिन्न वेष दिए है, सच्ची मालूम होती है, क्योकि वीरता का एक विकास दूसरे विकास से कभी किसी तरह मिल नही सकता। वीरता की कभी नकल नही हो सकती, जैसे मन की प्रसन्नता कभी कोई उधार नही ले सकता। वीरता देशकाल के अनुसार ससार

मे जब कभी प्रकट हुई तभी एक नया स्वरूप लेकर आई, जिसके दर्शन करते ही सब लोग चकित हो गए—कुछ बन न पडा और वीरता के आगे सिर झुका दिया।

जापानी वीरता की मूर्ति पूजते है। इस मूर्ति के दर्शन वे चेरी के फूल की शात हँसी मे करते है। क्या ही सच्ची और कौशलमयी पूजा है! वीरता सदा जोश भरा हुआ ही उपदेश नही करती। वीरता कभी-कभी हृदय की कोमलता का भी दर्शन कराती है। ऐसी कोमलता देखकर सारी प्रकृति कोमल हो जाती है, ऐसी सुन्दरता देखकर लोग मोहित हो जाते है। जब कोमलता और सुन्दरता के रूप मे वह दर्शन देती है तब चेरी-फूल से भी ज्यादा नाजुक और मनोहर होती है। जिस शख्स ने यूरोप को 'क्रूसेड्ज' के लिए हिला दिया वह उन सबसे बडा वीर था जो लडाई मे लडे थे। इस पुरुष मे वीरता ने आँसुओ और चाहो का लिबास लिया। देखो, एक छोटा-सा मामूली आदमी यूरोप मे जाकर रोता है कि हाय, हमारे तीर्थ हमारे वास्ते खुले नही और यहूद के राजा यूरोप के यात्रियो को दिक करते है। इस आँसू-भरी अपील को सुनकर सारा यूरोप उसके साथ रो उठा। यह आला दरजे की वीरता है।

बुलबुल की छाया को बीमार लोग सब दवाइयो से बढकर समझते थे। उसके दर्शनो ही से कितने बीमार अच्छे हो जाते थे। वह अव्वल दरजे का सच्चा पक्षी है जो बीमारो के सिरहाने खडा होकर दिन-रात गरीबो की निष्काम सेवा करता है और गदे जख्मो को जरूरत के वक्त अपने मुख से चूस-कर साफ करता है। लोगो के दिलो पर ऐसे प्रेम का राज्य अटल है। यह वीरता पर्दानशीन हिंदुस्तानी औरत की तरह चाहे कभी दुनिया के सामने न आए, इतिहास के वर्को के काले हर्फो मे न आए, तो भी ससार ऐसे ही बल से जीता है।

वीर पुरुष का दिल सबका दिल हो जाता है। उसका मन सबका मन हो जाता है। उसके खयाल सबके खयाल हो जाते हैं। सबके सकल्प उसके सकल्प हो जाते है। उसका बल सबका बल हो जाता है। वह सबका और सब उसके हो जाते है।

वीरो के बनाने के कारखाने कायम नही हो सकते। वे तो देवदारु के दरख्तो की तरह जीवन के अरण्य मे खुद-ब-खुद पैदा होते है और बिना किसी के पानी दिए, बिना किसी के दूध पिलाए, बिना किसी के हाथ लगाए, तैयार होते है। दुनिया के मैदान मे अचानक ही सामने आकर वे खडे हो जाते हैं, उनका सारा जीवन भीतर ही भीतर होता है। बाहर तो जवाहिरात की खानो की ऊपरी जमीन की तरह कुछ भी दृष्टि मे नही आता। वीर की जिंदगी मुश्किल से कभी-कभी बाहर नजर आती है। उसका स्वभाव तो छिपे रहने का है।

वह लाल गुदडियो के भीतर छिपा रहता है। कंदराओ मे, गोरो मे, छोटी-छोटी झोपडियो मे बडे-बडे वीर महात्मा छिपे रहते है। पुस्तको और अखबारो को पढने से या विद्वानो के व्याख्यानो को सुनने से तो सब ड्राइग-हाल के वीर पैदा होते हैं, उनकी वीरता अनजान लोगो से अपनी स्तुति सुनने तक खतम हो जाती है। असली वीर तो दुनिया की बनावट और लिखावट के मखौलो के लिए नही जीते।

हर बार दिखाव और नाम की खातिर छाती ठोककर आगे बढना और पीछे हटना पहले दरजे की बुजदिली है। वीर तो यह समझता है कि मनुष्य का जीवन एक जरा-सी चीज है। वह सिर्फ एक बार के लिए काफी है। मानों इस बदूक मे एक ही गोली है। हा, कायर पुरुष इसको बडा ही कीमती और कभी न टूटने वाला हथियार समझते हैं। हर घडी आगे बढकर, और यह दिखाकर कि हम बडे है, वे फिर पीछे इस गरज से हट जाते है कि उनका अनमोल जीवन किसी और अधिक बडे काम के लिए बच जाय। बादल गरज-गरज कर ऐसे ही चले जाते है। परन्तु बरसनेवाले बादल जरा देर मे बारह इन्च तक बरस जाते है।

कायर पुरुष कहते हैं—"आगे बढे चलो।" वीर कहते है—"पीछे हटे चलो।" कायर कहते है—"उठाओ तलवार।" वीर कहते है—"सिर आगे करो।" वीर का जीवन प्रकृति ने अपनी शक्तियो को फजूल खो देने के लिए नही बनाया है। वीर-पुरुष का शरीर कुदरत की कुल ताकतो का भडार है।

कुदरत का यह मरकज हिल नही सकता । सूर्य का चक्कर हिल जाय तो हिल जाय परतु वीर के दिल मे जो दैवी केद्र है वह अचल है । कुदरत के और पदार्थों की पालिसी चाहे आगे बढने की हो, अर्थात् अपने बल को नष्ट करने की हो, मगर वीरो की पालिसी बल हर तरह इकट्ठा करने और बढाने की होती है । वीर तो अपने अदर ही 'मार्च' करते है, क्योकि हृदयाकाश के केद्र मे खडे होकर वे कुल ससार को हिला सकते हैं ।

बेचारी मरियम का लाडला, खूबसूरत जवान, अपने मद मे मतवाला और अपने आपको साहशाह हकीकी कहनेवाला ईसा मसीह क्या उस समय कमजोर मालूम होता है जब भारी सलीब पर उठकर कभी गिरता, कभी जख्मी होता और कभी बेहोश हो जाता है ? कोई पत्थर मारता है, कोई ढेला मारता है, कोई थूकता है, मगर उस मर्द का दिल नही हिलता । कोई **क्षुद्र-हृदय और** कायर होता तो अपनी बादशाहत के बल की गुत्थियाँ खोल देता, अपनी ताकत को नष्ट कर देता, और सभव है कि एक निगाह से उस सल्तनत के तख्ते को उलट देता और मुसीबत को टाल देता, परन्तु जिसको हम मुसीबत जानते है उसको यह मखौल समझता था । "सूली मुझे है सेज पिया की, सोने दो मीठी-नीद है आती ।" अमर ईसा को भला दुनियाँ के विषय-विकार मे डूबे लोग क्या जान सकते थे ? अगर चार चिडियाँ मिलकर मुझे फाँसी का हुक्म सुना दे और मैं उसे सुन कर रो दूँ या डर जाऊँ तो मेरा गौरव चिडियो से भी कम हो जाय । जैसे चिडियाँ मुझे फाँसी देकर उड गई वैसे ही वह बादशाह और बादशाहते आज खाक मे मिल गई है । सचमुच ही वह छोटा-सा बाबा लोगो का सच्चा बादशाह है । चिडियो और जानवरो की कचहरियाँ के फैसलो से जो डरते या मरते है वे मनुष्य नही हो सकते । रानाजी ने जहर के प्याले से मीराबाई को डराना चाहा । मगर वाह री सच्चाई । मीरा ने उस जहर को भी अमृत मान कर पी लिया । वह शेर और हाथी के सामने की गई, मगर वाह रे प्रेम ! मस्त हाथी और शेर ने देवी के चरणो की धूल को अपने मस्तक पर मला और अपना रास्ता लिया । इस वास्ते वीर पुरुष आगे नही, पीछे जाते हैं । भीतर ध्यान करते है । मारते नही, मरते है ।

वह वीर क्या जो टीन के वर्तन की तरह झट गरम और झट ठडा हो जाता है। सदियो नीचे आग जलती रहे तो भी शायद ही वीर गरम हो, ओर हजारो वर्ष बर्फ उस पर जमती रहे तो भी क्या मजाल जो उसकी वाणी तक ठडी हो। उसे खुद गरम और सर्द होने से क्या मतलब ? कारलायल को जो आजकल की सभ्यता पर गुस्सा आया तो दुनिया मे एक नई शक्ति और एक नई जबान पैदा हुई। कारलायल अगरेज जरूर है, पर उसकी बोली सबसे निराली है। उसके शब्द मानो आग की चिनगारियाँ है जो आदमी के दिलो मे आग-सी लगा देती है। सब कुछ बदल जाय मगर कारलायल की गरमी कभी कम न होगी। यदि हजार वर्ष ससार मे दुखडे ओर दर्द रोये जाएँ तो भी बुद्धि की शक्ति और दिल की ठडक एक दर्जा भी इधर-उधर न होगी। यहाँ आकर भौतिक विज्ञान के नियम रो देते है। हजारो वर्ष आग जलती रहे तो भी थर्मामीटर जैसा का तैसा ही रहेगा। बाबर के सिपाहियो ने और लोगो के साथ गुरु नानक को भी बेगार मे पकड लिया। उनके सिर पर बोझ रक्खा और कहा—"चलो।" आप चल पडे। दौड, धूप, बोझ, मुसीबत, बेगार मे पकडी हुई स्त्रियो का रोना, शरीफ लोगो का दु ख, गाँव के गाँव का जलना, सब किस्म की दुख-दाई बाते हो रही है। मगर किसी का कुछ असर नही हुआ। गुरु नानक ने अपने साथी मर्दाना से कहा—"सारगी बजाओ, हम गाते हैं।" उस भीड मे सारगी बज रही है और आप गा रहे है। वाह री शाति !

अगर कोई छोटा सा बच्चा नैपोलियन के कधे पर चढकर उसके सिर के बाल खीचे तो क्या नैपोलियन इसको अपनी बेज्जती समझ कर उस बालक को जमीन पर पटक देगा, जिसमे लोग उसको बडा वीर कहे ? इसी तरह सच्चे वीर जब उनके बाल दुनिया की चिडियाँ नोचती है, तब कुछ परवाह नही करते क्योकि उनका जीवन आस-पास वालो के जीवन से निहायत ही बढ-चढ कर ऊँचा और बलवान होता है। भला ऐसी बातो पर वीर कब हिलते है। जब उनकी मौज आई तभी मैदान उनके हाथ है।

जापान मे एक छोटे से गाँव की एक झोपडी मे छोटे कद का एक जापानी

रहता था। उसका नाम ओशियो था। यह पुरुष बडा अनुभवी और ज्ञानी था। बडे कडे मिजाज का, स्थिर धीर और अपने खयालात के समुद्र मे डूबा रहनेवाला पुरुष था। आस-पास रहनेवाले लोगो के लडके इस साधु के पास आया-जाया करते थे और यह उनको मुफ्त पढाया करता था। जो कुछ मिल जाता वही खा लेता था। दुनिया की व्यावहारिक दृष्टि से वह एक किस्म का निखट्टू था। क्योकि इस पुरुष ने ससार का कोई बडा काम नही किया था। उसकी सारी उम्र शाति और सत्वगुण मे गुजर गई थी। लोग समझते थे कि वह एक मामूली आदमी है। एक दफा इत्तिफाक से दो-तीन फसलो के न होने से इस फकीर के आस-पास के मुल्क मे दुर्भिक्ष पड गया। दुर्भिक्ष बडा भयानक था। लोग बडे दु खी हुए। लाचार होकर इस नगे, कगाल फकीर के पास मदद माँगने आये। उसके दिल मे कुछ खयाल हुआ। उनकी मदद करने को वह तैयार हो गया। पहले वह ओसाको नामक शहर के बडे-बडे धनाढ्य और भद्र पुरुषो के पास गया और उनसे मदद माँगी। इन भले मानसो ने वायदा तो किया, पर उसे पूरा न किया। ओशियो फिर उनके पास कभी न गया। उसने बादशाह के वजीरो को पत्र लिखे कि इन किसानो को मदद देनी चाहिए, परन्तु बहुत दिन गुजर जाने पर भी जबाब न आया। ओशियो ने अपने कपडे और किताबे नीलाम कर दी। जो कुछ मिला, मुट्ठी भर कर उन आदमियो की तरफ फेक दिया। भला इससे क्या हो सकता था? परन्तु ओशियो का दिल इससे पूर्ण शिव-रूप हो गया। यहाँ इतना जिक्र कर लेना काफी होगा कि जापान के लोग अपने बादशाह को पिता की तरह पूजते है। उनके हृदय की यह एक वासना है ऐसी कौम के हजारो आदमी इस वीर के पास जमा है। ओशियो ने कहा—"सब लोग हाथ मे बाँस लेकर तैयार हो जाओ और बगावत का झडा खडा कर दो।" कोई भी चूँ-चरा न कर सका। बगावत का झडा खडा हो गया। ओशियो एक बाँस पकडकर सबके आगे किओटो जाकर बादशाह के किले पर हमला करने के लिए चला। इस फकीर जनरल की फौज की चाल कौन रोक सकता था? जब शाही किले के सरदार ने देखा तब उसने रिपोर्ट की और आज्ञा माँगी कि ओशियो और उसकी बागी फौज पर

बदूको की बाढ छोडी जाय। हुक्म हुआ कि "नही, ओशियो तो कुदरत के सब्ज वर्को को पढाने वाला है। वह किसी खास बात के लिए चढाई करने आया होगा। उसको हमला करने दो और आने दो।" जब ओशियो किले मे दाखिल हुआ तब वह सरदार इस मस्त जनरल को पकडकर बादशाह के पास ले गया। उस वक्त ओशियो ने कहा—वे राजभडार, जो अनाज से भरे हुए हैं गरीबो की मदद के लिए क्यो नही खोल दिये जाते ?

जापान के राजा को डर-सा लगा। एक वीर उसके सामने खडा था, जिसकी आवाज मे दैवी शक्ति थी। हुक्म हुआ कि शाही भाडार खोल दिये जायँ और सारा अन्न दरिद्र किसानो को बाटा जाय। सब सेना और पुलिस धरी की धरी रह गई। मत्रियो के दफ्तर लगे रहे। ओशियो ने जिस काम पर कमर बाँधी उसको कर दिखाया! लोगो की विपत्ति कुछ दिनो के लिए दूर हो गई। ओशियो के हृदय की सफाई, सच्चाई और दृढता के सामने भला कौन ठहर सकता था ? सत्य की सदा जीत होती है। यह भी वीरता का एक चिन्ह है। रूस के जार ने सब लोगो को फाँसी दे दी। किन्तु टाल्सटाय को वह दिल से प्रणाम करता था! उनकी बातो का आदर करता था। जय वही होती है जहाँ कि पवित्रता और प्रेम है। दुनिया किसी कूडे के ढेर पर नही खडी है कि जिस मुर्ग ने बाँग दी वही सिद्ध हो गया। दुनिया धर्म और अटल आध्यात्मिक नियमो पर खडी है। जो अपने आपको उन नियमो के साथ अभिन्नता करके खडा हुआ वह विजयी हो गया आजकल लोग कहते है कि काम करो, काम करो। पर हमे तो ये बाते निरर्थक मालूम होती है। पहले काम करने का बल पैदा करो—अपने अन्दर ही अन्दर वृक्ष की तरह बढो। आजकल भारतवर्ष मे परोपकार का बुखार फैल रहा है। जिसको १०५ डिग्री का बुखार चढा वह आजकल के भारत वर्ष का ऋषि हो गया। आजकल भारतवर्ष मे अखबारो की टकसाल मे गढे हुए वीर दर्जनो मिलते हैं। जहाँ किसी ने एक-दो काम किये और आगे बढकर छाती दिखाई तहाँ हिन्दुस्तान के सारे अखबारो ने 'हीरो' और 'महात्मा' की पुकार मचाई। बस एक नया वीर तैयार हो गया। ये तो पागलपन की लहरे हैं। अखबार लिखने वाले मामूली सिक्के के मनुष्य होते है। उनकी स्तुति और

निंदा पर क्यो मरे जाते हो ? अपने जीवन को अखबारो के छोटे-छोटे पैराग्राफों के ऊपर क्यो लटका रहे हो ? क्या यह सच नही कि हमारे आजकल के वीरो की जाने अखबारो के लेखो मे है ? जहाँ इन्होंने रग बदला कि हमारे वीरो के रग बदले, ओठ सूखे और वीरता की आशाएँ टूट गई।

प्यारे, अन्दर के केन्द्र की ओर अपनी चाल उलटो और इस दिखावटी और बनावटी जीवन की चचलता मे अपने आपको न खो दो। वीर नही तो वीरो के अनुगामी बनो, और वीरता काम नही तो धीरे-धीरे अपने अन्दर वीरता के परमाणुओ को जमा करो।

जब हम कभी वीरो का हाल सुनते हैं तब हमारे अदर भी वीरता की लहरे उठती हैं और वीरता का रग चढ जाता है। परन्तु वह चिरस्थायी नही होता। इसका कारण सिर्फ यही है कि हमारे भीतर का मशाला तो होता नही। हम सिर्फ खाली महल उसके दिखलाने के लिये बनाना चाहते है। टीन के बर्तन का स्वभाव छोडकर अपने जीवन के केन्द्र मे निवास करो। सचाई की चट्टान पर दृढता से खडे हो जाओ। अपनी जिन्दगी किसी और के हवाले करो ताकि जिन्दगी के बचाने की कोशिशो मे कुछ भी वक्त जाया न हो। इसलिए बाहर की सतह को छोडकर जीवन के अन्दर की तहो मे घुस जाओ, तब नये रग खुलेंगे। द्वेष और भेददृष्टि छोडो, रोना छूट जायगा। प्रेम और आनन्द से काम लो, शाति की वर्षा होने लगेगी और दुखडे दूर हो जायेंगे। जीवन के तत्व का अनुभव करके चुप हो जाओ, धीर और गभीर हो जाओगे। वीरो की, फकीरो की, पीरो की यह कूक है—हटो पीछे, अपने अन्दर जाओ, अपने आपको देखो, दुनिया और की और हो जायगी। अपनी आत्मिक उन्नति करो।

श्याम सुन्दर दास
(१६३२-२००२)

६

साहित्य का विवेचन

बहुत प्राचीन काल मे मनुष्य मूर्ति-रचना, चित्राकन, सगीत तथा कविता की भिन्न-भिन्न प्रणालियो से अपनी भावनाएँ व्यक्त करता था। उमी प्रकार वह आज भी कर रहा है। अतएव इन प्रणालियो मे किसी एक को दूसरे से अधिक स्वाभाविक अथवा सस्कृत नही कहा जा सकता। प्राय. सभी समयो मे ये सभी प्रणालियाँ प्रचलित थी और आज भी प्रचलित है। सभी सभ्य देशो मे इनका विकास होता रहा है और ये ही उन देशो की सभ्यता का माप-दड बन रही है। इतिहास के शोधक इनके ही आधार पर प्राचीन सभ्यताओ की विशिष्टताओ का निरूपण करते है। ऐसी अवस्था मे यह भ्रम उत्पन्न नही हो सकता कि साहित्य-कला किसी अन्य कला से तत्त्वत. भिन्न अथवा पृथक् है। साहित्य की उत्पत्ति और विकास भी उसी प्रकार से हुआ है जिस प्रकार अन्य कलाओ का हुआ है। साहित्य के मूल मे भी वे ही मनोभाव है जो सब कलाओ के मूल मे है, पर अन्य कलाओ की अपेक्षा साहित्य का प्रभाव अधिक विस्तृत तथा उसका दर्शन-शास्त्र अति सूक्ष्म है। यहाँ उसके स्वरूप-निरूपण की आयोजना की जा रही है। सस्कृत आदि प्राचीन उन्नत भाषाओ मे तथा आधुनिक पाश्चात्य भाषाओ मे इस प्रकार की आयोजनाएँ की जा चुकी है, और अनेक साहित्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रथ लिखे जा चुके है। कभी-कभी ये शास्त्र साहित्य-कला के प्रकृत रूप का उद्घाटन करने के उचित पथ का परित्याग कर नियम-निर्धारण की पद्धति पर चलने लगते हैं जिसके कारण अनेक प्रकार के प्रवाद प्रचलित हो जाते हैं और साहित्य का अनिष्ट होने लगता है। नियम-निर्धारण के लिये साहित्य-शास्त्र की रचना

उद्देश्य

उचित नही जान पडती और न स्वभाविक ही है। साहित्य की वेगवती सरिता नियमो की अवहेलना कर स्वच्छदता-पूर्वक बहने मे ही प्रसन्न रहती है। साहित्य-सम्बन्धी शास्त्रकार को अनधिकार चेष्टा नही करनी चाहिए। उसका यह कार्य नही है कि वह उस सरिता के बहाव के सामने बॉध बॉधने की चेष्टा करे। उसे चाहिये कि वह उस प्रवाह के दर्शन करे, सुगम्य नौका द्वारा उसमे विहार करे, उसके बँधे हुए घाटो तथा तट की शोभा का आनन्द ले। अपने इन अनुभवो का लाभ वह अन्य यात्रियो के लिये जितनी ही सुबोध तथा सुचारु रीति से दे सके उसकी उतनी ही अधिक सफलता है। साहित्य-सम्बन्धी तथ्यो का उद्‌घाटन करते हुए हमे अपनी परिमित बुद्धि के द्वारा यह ध्यान रखना चाहिए कि अपनी ओर से नियमो का बधन बना कर साहित्य की धारा बदलने से चेष्टा न करे, केवल उसके नैसर्गिक नियमो को यथासम्भव प्रकट कर दे। साहित्यालोचन मे व्यक्तिगत मत-निरूपण को सदैव दूर रखते हुए साहित्य के स्वभाव का निरूपण हमारा लक्ष्य होना चाहिए।

साहित्य-दर्शन

अन्य ललित-कलाओ की ही भाँति साहित्य का स्रष्टा भी चैतन्य मनुष्य है। यह ससार असख्य जीवधारियो की निवासभूमि है। हमारे शास्त्र कहते है कि प्रत्क जीव आत्मवान् है। आत्मा अपने निर्विकल्प रूप में प्रत्यगात्मा है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया ये आत्मा की तीन वृत्तियाँ मानी गई हैं। जिस प्रकार प्रत्येक जीव आत्मवान् है उसी प्रकार प्रत्येक मे अनात्मभाव भी है। सांख्य मे इसे ही मूल प्रकृति कहा है। आत्म अनात्म के सम्मिश्रण से ही जीव मात्र की रचना हुई है। गोस्वामी तुलसीदास ने इसी को "जड चेतन की ग्रथि" कह कर अपना प्रसिद्ध रूपक बाँधा है। ससार का ससरण इसी समिश्रण का रूप है। प्रत्यगात्मा और मूल प्रकृति आत्म और अनात्म—दोनो ही परमात्मा मे है जिनकी लीला का यह ससार हमारी आँखो के सामने फैला हुआ है। जितने जीवधारी हैं सबमे आत्म-भाव और अनात्मभाव भिन्न-भिन्न मात्राओ मे व्याप्त हो रहा है। इसीलिए जीवों के अगणित रूप है। एक परमात्मा का यह अगणित रूप "एकोऽहं बहुस्याम" के श्रुतिवाक्य से सिद्ध होता है। किसी जीव मे आत्मभाव प्रबल है, किसी में

अनात्मभाव प्रबल है। इन्ही जीवो से एक राष्ट्र का, एक ससार का, एक समष्टि का निर्माण होता है। इसलिये हम बहुधा किसी राष्ट्र को सत्योन्मुख और किसी को असत्योन्मुख कहते है, ससार मे कभी सतयुग और कभी कलियुग का प्रवेश बतलाते है और समष्टि-चक्र मे कभी आत्मा की तथा कभी अनात्मा की अधिकता पाते है। मूल के पहुँचने पर हम प्रत्येक जीव के आत्मभाव और अनात्मभाव का दर्शन करते है, जिनके सयोग से यह बहुरूपी ससार भास रहा है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि आत्मभाव और अनात्मभाव क्या है जिनका समिश्रित रूप हम भिन्न-भिन्न जीवो से देख रहे है। क्यो हम किसी जीव को साधु तथा सदाचारी और किसी अन्य को असाधु तथा दुराचारी कहते है। आज एक व्यक्ति हमारे सामने आता है जो आत्महत्या करने को तैयार है, उसकी बाते किस प्रकार की होती है? वह कहता है कि आत्मा कुछ नही है, केवल जड ससार सब को घेरे हुए है। ससार मे न्याय कही नही, क्लेश सर्वत्र है। आचार के स्थान पर दुराचार और न्याय के स्थान पर अत्याचार का ही व्यापार सब ओर फैल रहा है। आज यह सुन लेने के बाद कल किसी दूसरे जीव से आपकी भेट होती है। वह कहता है आत्मा ही सब कुछ है। इसके अतिरिक्त और कुछ नही। सत्य ही ससार का स्वरूप है। सत् ही आचार है। अब इन दोनो जीवो के वचनो की तुलना कीजिए। एक मे आप अनातभाव की पराकाष्ठा और दूसरे मे आत्मभाव का विशद रूप देखते है। ऊपर तो हमने केवल दो उदाहरण लेकर आत्म और अनात्म का विभेद दिखाने की चेष्टा की है। वास्तविक ससार मे तो वह विभेद बहुतो को दृष्टिगोचर भी नही होता। जितने जीव हैं ये सब मे दोनो भाव भिन्न-भिन्न मात्राओ मे व्याप रहे है जिनका आदि अत मिलना बहुत ही कठिन है। प्रश्न यह है कि आत्म और अनात्म का भेद क्या है, स्वरूप क्या है, पहचान क्या है?

इन प्रश्नो का उत्तर दार्शनिको ने अनेक प्रकार से दिया है पर उन सबका प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध नही है। हमारे लिये तो यही जान लेना पर्याप्त है कि आत्म और अनात्म का भेद ससार मे दिखाई देता है और इस भेद के अन्तर्गत

उसके अगणित उपभेद मिलते है। "भिन्नरुचिर्हि लोक", मुडे-मुडे मतिर्भिन्ना" आदि अनेक उक्तियो मे इसी भेद की ध्वनि भरी हुई है। आत्म और अनात्म का स्वरूप क्या है यह हम ऊपर के उदाहरण के प्रकट कर चुके है। इन दोनो के मुख्य-मुख्य लक्षणो के सम्बन्ध मे पडितो ने प्रकाश डाला है। आत्मा का गुण आनन्दमय ठहराया गया है। आनन्द का विस्तार, प्रसार उन्नयन ये आत्मिक क्रियाएँ कही गई है। इसी के विरोधी गुण तथा क्रियाएँ अनात्मा की मानी गई है। किसी जीवधारी मे आनन्द का आधिक्य है, किसी मे उसकी न्यूनता होती है, किसी अन्य मे इसके विपरीत भाव देख पडते है। इसी चक्र से यह ससार चल रहा है।

आनन्द और विषाद, आकर्षण और विकर्षण अनुराग और विराग ये क्रमशः आत्मा और अनात्मा के विषय है और ये ही साहित्य के भी विषय है। जैसे नित्यप्रति के जीवन मे हमारी ज्ञान, इच्छा और क्रिया की वृत्तियाँ आनद और विषाद, आकर्षण और विकर्षण आत्म और अनात्म के अगणित भेदो के साथ सयुक्त हो जाती है वैसे ही वे साहित्य मे भी होती है। जीवन मे जो प्रमुख इच्छाएँ और कामनाएँ है, साहित्य मे वे ही स्थायी भाव है। जीवन मे जिस प्रकार प्रत्येक जीव अपनी इच्छाओ की पूर्ति -द्वारा अपने आनद का विस्तार करना चहता है उसी प्रकार साहित्य का भी प्रत्येक पाठक अपने अनुरूप 'रस' की प्राप्ति करना चाहता है। जिस प्रकार किसी देश, जाति अथवा राष्ट्र का जीवन उसके प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का समष्टि रूप है और जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति ससार मे अपने जीवन को अपने ही पथ पर ले चलता और आप ही अपना विकास करता है उसी प्रकार साहित्य मे भी समष्टि रूप से सब के योग्य सामग्री और सबके विकास से साधन रहते है। साराश यह कि हमारा साहित्य भी हमारे सृष्टि-चक्र के तुल्य ही नानात्व के सहित है। यदि ऐसा न होता तो उसका साहित्य नाम कैसे सार्थक होता ? हमारी समझ मे चैतन्य मनुष्य ने अपने अनुरूप ही साहित्य की यह सजीव प्रतिमा निर्मित की है।

साहित्य आत्म और अनात्म के सहित रहता है। हमारे शास्त्रकारो ने

और अधिक ऊहापोह भी किया है। आत्म और अनात्म, पुरुष ओर प्रकृति ये सब भेद परमात्मा मे विलीन कर देने की व्यवस्था पुरानी है। हिंदू मत की श्रेष्ठ विशेषता यही है कि वह भेदो के भीतर एक अभेद को देखता है। प्राचीनो के इस दर्शन ने ब्रह्म का निरूपण किया था और साहित्य मे भी उन्होने रस का निरूपण किया है। ज्ञान, भक्ति, कर्म आदि के भिन्न-भिन्न मार्गों से उसी एक की प्राप्ति बतलाई गई है और साहित्य का रस भी उसी के समकक्ष प्रतिष्ठित किया गया है। शास्त्रकारो का कथन है कि साहित्य के रस का आनद अलौकिक है और आनन्द ब्रह्मानद-सहोदर है। उन्होंने इस विषय के अनेक तर्क उपस्थित किये है। पानी पीने से प्यास बुझती है, प्यास की इच्छा का उपशमन होता है, तृप्ति मिलती है। वह तृप्ति लौकिक है और जल का अस्वाद भी लौकिक है। परन्तु साहित्य का रस लौकिक नही है। हमारी लैकिक इच्छाएँ साहित्य मे भावना के रूप धारण करके परिष्कृत हो जाती हैं। जब किसी ग्रथ मे हम लौकिक घटनाओ का वर्णन पढते है तब वे हमारे स्मृति-पटल पर भावना चिह्न अकित करती हैं। उनका आस्वाद हमारे लौकिक आवाद से भिन्न होता है। जैसे कोई सरिता अपनी गति से प्रवाहित हो रही है और उसका प्रवाह मोड कर, दूसरी दिशाओ से घुमा-फिरा कर फिर उसी सरिता मे मिला दिया जाय तो परिणाम यह होगा कि उसका जल अधिक तीव्र गति से वृत्ताकार फिरने लगेगा और फलस्वरूप उसे अधिक गहराई भी प्राप्त होगी। साहित्य का प्रभाव भी साधारण जीवन की घटनाओ की अपेक्षा अधिक तीव्र और गहरे रूप मे पडता है। वह प्रभाव, वह रस इसलिये अलौकिक कहा गया है।

इस प्रकार साहित्य के अनत भावों को रस के अलौकिक आनद में सन्निविष्ट कर शास्त्रकार ने साहित्य-कला का रूप निरूपित कर दिया। यदि भावो के साथ रस के अलौकिकत्व की योजना न की जाती तो

साहित्य-कला का रूप

साहित्य का व्यक्तित्व स्पष्ट प्रकाश मे आता। अगले अध्यायो मे न आता। अगले अध्यायो मे हमसाहित्य-कला के अग-प्रत्यंग की परीक्षा करते हुए शास्त्रकार के उपयुक्त निरुपण पर विचार करेगे। यहाँ हम इतना ही कह सकते हैं कि साहित्य भी अन्य कलाओ की भाँति

एक नैसर्गिक और अखड सृष्टि है। जीवन के असख्य रग-रूपो से साहित्य की कला शोभाशालिनी बनती है। हमारे असख्य भावो से उत्पन्न रस ही साहित्य की सजीव आत्मा है, यही उसकी मूल वस्तु है। इस मूल वस्तु का अस्तित्व जब तक है तब तक साहित्य साहित्य है। उसमे अनेक प्रकार की उपाधियाँ लग सकती है, वह स्वय अनेकानेक रूप धारण कर सकता है, परन्तु इससे उसका वास्तविक रूप नष्ट नही होता। अनेकानेक भावो के नियमित सयोग से ही रस की निष्पत्ति होती है जिसे अलौकिक आनद प्रदान करने वाला माना गया है। हमारे साहित्य के शास्त्रकारो ने अलौकिक की कोई स्पष्ट व्याख्या नही की। रसानद को ब्रह्मानद-सहोदर बतलाकर उसका कुछ आभास दिया गया है, यूरोपियन कलाशास्त्री क्रोचे भी साहित्य की प्रक्रिया को आध्यात्मिक कहता है। प्राय. रस सप्रदाय वालो का अलौकिक और क्रोचे का आध्यात्मिक एक ही है। इग्लैंड के योग्य साहित्य-समीक्षक आइ० ए० रिचर्ड्स महोदय ने इस विषय पर विशद विवेचन किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि साहित्य का आनद साधारण प्राकृतिक आनद से तत्वत भिन्न नही है। उनका कथन है कि प्राकृतिक वस्तुओ के देखने से चित्त पर जो प्रभाव पडता है लगभग उसी प्रकार का प्रभाव उनका वर्णन साहित्य मे पढने से पडता है। हरित भूमिखड, नील आकाश, वासती वनविभूति का जो आनद है वही साहित्य का आनद है। यदि कुछ भेद है तो केवल मात्रा का। साहित्य मे वह कुछ असाधारण रूप मे मिलता है। इसका प्रधान कारण यह है कि साहित्य के द्वारा हमारी भावना-शक्ति अधिक परिष्कृत हुई रहती है, जिससे प्राकृतिक वस्तु की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली रूप मे साहित्य का आनद प्राप्त होता है। साहित्यचक्र को एक अलौकिक क्रियाचक्र मान कर चलने वाले व्यक्तियो ने अनेक बार साहित्य को जीवनधारा के स्वच्छ जल से वचित कर दिया है। "कला के लिये कला" का वाद जब बढ जाता है तब बहुत से मिथ्याबुद्धि समीक्षक अलौकिक आनद का अर्थ नीति और आचार शास्त्रो का पालन-जन्य पुण्य लगा देते हैं और मनमाने ढग पर अपनी व्याख्या आरम्भ करते हैं। सच्ची बात यह है कि सस्कृत मे लौकिक और अलौकिक का प्रायः

पारिभाषिक अर्थ मे व्यवहार होता है। यहाँ अलौकिक से परलोक, भूतविद्या, अध्यात्म आदि का अर्थ कभी नही समझा जाता। अलौकिक का सीधा सादा अर्थ है सवेदन-जन्य, मानसिक और सूक्ष्म। इसी से लौकिक बातो मे सभी लोग लग जाते है पर अलौकिक की ओर कल्पना-सपन्न, शास्त्र-पारगत विद्वान् और रसिक जन ही जाते है। उदाहरण के लिए व्याकरण मे लौकिक व्युत्पत्ति को सभी पाठक तथा श्रोता समझ लेते हैं पर अलौकिक व्युत्पत्ति को विशेषज्ञ वैयाकरण ही काम मे लाते हैं। इसी प्रकार आनद की भी बात है। लौकिक आनद इसी लोक मे—हमारे इसी स्थूल शरीर और इद्रियो के लोक मे—मिलता है पर अलौकिक आनद सूक्ष्म मानस लोक मे और कभी-कभी उससे भी ऊपर उठने पर प्राप्त होता है। अत लौकिक और अलौकिक के पारिभाषिक अर्थ को समझे बिना आलोचना करना बडी भारी भूल है। पहले प्रकरण मे भी हम लौकिक और अलौकिक आनद का थोडा भेद दिखा चुके हैं। यहाँ हमे इतना ही और स्मरण रखना चाहिए कि साधारण 'आहार और निद्रा' के सुख का आधार हमारी सहज प्रवृत्तियाँ और इद्रियाँ दोनो होती है पर प्रवृत्तियो का ही प्राधान्य रहता है, आगे बढने पर जिसे हम इद्रियसुख अथवा लौकिक सुख कहते हैं उसमे इद्रियो के साथ मानस कल्पना का भी योग रहता है, पर प्राधान्य रहता है इद्रियो का ही इसी से यह सुख भौतिक और स्थूल प्राकृतिक सुख माना जाता है। अत मे वह भूमिका आती है जिसमे कल्पना ही प्रधान हो जाती और कल्पना के द्वारा विचित्र अनुभूति होती है। इसे कहते हैं अलौकिक। इसका भी संबध मनुष्य के भौतिक जगत् से रहता है, पर गौण रूप से। लौकिक आनद मे पहले लोक आता है तब आती है कल्पना और अलौकिक आनद मे पहले कल्पना आती है और फिर उस मानस अनुभव का स्थूल इद्रियो पर प्रभाव पडता है। इसी से लौकिक आनद बिना अभ्यास और ज्ञान के भी सभव होता है पर अलौकिक आनद के लिये तो अभ्यास और ज्ञान अनिवार्य होते हैं। आत्मानद और काव्यानद अलौकिक माने जाते है क्योकि वे कभी अभ्यास और ज्ञान के बिना प्राप्त ही नही हो सकते।

हमारा भाव-जगत् सदैव अपनी निरपेक्ष पूर्णता मे विराजमान है, मनुष्य

की कल्पना, भावना, बुद्धि, विवेक नित्यप्रति उन्नति ही करते जा रहे है पर उनके सगम से निकली हुई यह भावधारा अजस्र, अखड तथा तद्रूप ही बनी रहती है। आश्चर्य है कि ससार के इस सश्लिष्ट तथा विकासमान चक्र की अवहेलना कर साहित्य तथा कलाओ ने अपना मौलिक रूप नही छोडा। आज हम सभ्यता के अग्रगामी युग मे निवास कर रहे है और अपने को विद्याओ के पारगत तथा विज्ञान मे विशारद मानते हैं। हम अहकारवश अपने प्राचीन जीवन का उपहास करते है और उससे किसी प्रकार सबध स्थापित करते हुए सकोच का अनुभव भी करते है। हम यह समझ लेते हैं कि नवीनता की सम्पूर्ण सामग्री से सुसज्जित होने के कारण हम सहज ही अपने प्राचीन सबधो का विच्छेद कर, नव्यवेष मे, नए मनुष्य के रूप मे स्वीकार कर लिए जायँगे। परन्तु हमारा स्वभाव-सिद्ध साहित्य तथा हमारी नैसर्गिक कलाएँ हमारा यह छद्म-वेष प्रकट ही कर देती है। हम अपने को सभ्यता के घटाटोप मे दबाने की चेष्टा करते हुए कदाचित् सुख का अनुभव करते है पर कलाएँ हमारे इस सुख के मिथ्या रूप को प्रकट करने मे कभी नही चूकती। हम देखते है कि हमारी सपूर्ण बुद्धि, सिद्धात, दर्शन और विज्ञान हमे आदिम मनुष्यता से चाहे जितनी दूर ले जायँ, चाहे वे हममे से बहुतो का बहिष्कार कर हमे युग की दौड मे पीछे ही क्यो न छोड दे पर साहित्य तो हमारा पल्ला पकडे ही रहेगा। उसी के अवलब से हम निश्चित रहते हैं क्योकि हमारी मनुष्यता के नष्ट होने की तब तक आशका नही जब तक साहित्य हमारे साथ है।

साहित्य और विज्ञान

साहित्य का जगत् भावना और कल्पना का जगत् है और विज्ञान का जगत् बुद्धि वैभव का जगत् है। परतु इसका यह अर्थ नही कि विज्ञान मे भावना और कल्पना की आवश्यकता ही नही पडती अथवा साहित्य मे बुद्धि वैभव का कुछ स्थान ही नही है। वास्तव मे दोनो का पारस्परिक सबध घनिष्ठ है। साहित्य यदि मानव जीवन की विकसित बुद्धि का लाभ नही उठा सकता तो अयोग्य ही कहा जायगा। उसी प्रकार विज्ञान यदि विकसित मानव भावनाओ के अनुरूप अपने को उपयोगी नही बनाता तो हानिकर ही होता है। सभ्य देशो के

साहित्य और विज्ञान सदैव कधे से कधा मिलाकर ही चलते देखे जाते है। मनुष्य मात्र का अधिक से अधिक हित दोनो के इसी समन्वय से सम्भव है। दोनो को एक दूसरे का आश्रय लेकर उन्नति करनी चाहिए परन्तु इतना कर चुकने के उपरात हम उस मौलिक अन्तर को नही भूल सकते है जिसके कारण साहित्य और विज्ञान दो स्वतन्त्र विद्याएँ बनी हुई है। वैज्ञानिक तो वस्तुओ के रूप, आकार, रचना, गुण स्वभाव और सबध पर विचार करता है, उन्हे परस्पर मिलाता, उनका वर्गीकरण करता तथा उन कारणो या क्रियाओ का पता लगाता है जिनके अधीन होकर वे अपना वर्तमान रूप धारण करती हैं। इस प्रकार स्पष्ट ही विज्ञानशास्त्री के क्रियाकलाप मे बौद्धिक अन्वेषण और सिद्धान्त-निरूपण की ही प्रधानता होती है। दर्शनशास्त्र, रसायन, भूगर्भ आदि अनेक शास्त्र विज्ञान की ही कोटि मे आवेगे। इनका नित्यप्रति विकास हो रहा है और आज नवीन अनुसधानो के कारण प्राचीन अनुसधान भ्रात सिद्ध हो रहे है। मनुष्य उनका त्याग करते जाते हैं। नए-नए शास्त्र बनते जा रहे है जो मनुष्य की बुद्धि तथा अन्वेषण-प्रियता के निदर्शन हैं। विज्ञान का प्रत्येक आचार्य जगत् के रूप का विषयात्मक विचार करता है और एक-एक प्राकृतिक तत्व को मिलाकर सादृश्य के आधार पर कई वर्ग स्थापित करता और फिर छोटे-छोटे वर्गो से एक बडा वर्ग स्थापित करता है। इस प्रकार वह सृष्टि शृखलता और क्रमशीलता स्थापित करने का उद्योग करता है। विज्ञान का उद्देश्य पदार्थो की क्रमबद्ध, बुद्धिसगत और सहेतुक व्याख्या करना है जिसके अन्तर्गत उसके गुण, उद्भव और इतिहास की व्याख्या रहती है जो कार्य-कारण सबध-तथा प्राकृतिक नियम के आधार पर की जाती है। इसके अतिरिक्त जो कुछ बच जाता है, उससे विज्ञान का न कोई सबध है, न प्रयोजन।

परन्तु इस वैज्ञानिक व्याख्या के अनतर बहुत कुछ बच रहता है और उससे साहित्य का बडा घनिष्ठ सबध है। हम ससार के नित्य व्यवहार मे देखते है कि पदार्थो या घटनाओ के वास्तविक रूप और उनके कार्य-कारण से हम आकृष्ट तो अवश्य होते है पर यह आकर्षण हमारी बुद्धि को ही उत्तेजित न कर हमारे मनोवेगो को भी उत्तेजित करता है। जब हम विज्ञान के अध्ययन

मे लगे रहते है तब समस्त सृष्टि की प्राकृतिक घटनाओ को एक समष्टि समझते है, जिनकी जॉच करना, जिनका वर्गीकरण करना और जिनका कारण ढूँढ निकालना हमारा कर्त्तव्य होता है। साराश यह कि वैज्ञानिक का लक्ष्य कुछ सिद्धान्तो पर पहुँचना होता है और उसका कार्य वही समाप्त भी हो जाता है। परन्तु साहित्य का लक्ष्य उससे भिन्न है। यह नही कि साहित्य मे कुछ सिद्धान्त नही होते अथवा वैज्ञानिक सिद्धान्तो का साहित्यकार पर कुछ प्रभाव नही पडता। वास्तविक बात यह है कि सिद्धान्त-निरूपण उसका कार्य नही है। जब विज्ञान वस्तुओ और घटनाओ के सबध मे पूरा-पूरा समाधान करने वाला कारण बता देता है तब भी हम उनकी अद्भुतता और सुन्दरता से प्रभावित होते ही है। यह साहित्य की भूमि है। कैसी ही स्पष्ट वैज्ञानिक व्याख्या क्यो न हो वह हमारे इस प्रभाव को निर्मूल नही कर सकती, उलटे वह उसके उत्कर्ष ही का कारण होती है। साधारणत हमे सृष्टि की अद्भुतता और सुन्दरता का अनुभव कुठित सा होता है पर जब हमारी सवेदना उत्तेजित हो उठती है और हमारी कल्पना काम करने लगती है। तब यही अनुभव बहुत स्पष्ट और प्रभावोत्पादक हो जाता है और हममे आनन्द, आश्चर्य, कृतज्ञता, आदर-मान आदि का उद्रेक करता है। विज्ञान के विकास के साथ-साथ हमारे इन आनन्द, आश्चर्य, कृतज्ञता आदि के रूप बदलते रहते है पर मूल मे उनका रूप वही बना रहता है।

इस दृष्टि से साहित्य चिर नवीन भी है और चिरन्तन भी। हम उसे प्राचीन और नवीन का तारतम्य निरूपित करने मे एकमात्र समर्थ मानते है। जातियो के वास्तविक इतिहास को सुरक्षित रखने का साधन साहित्य के अतिरिक्त और क्या है? राष्ट्रो के जीवन की उन्नति और अवनति, आशाएँ और आकाक्षाएँ साहित्य मे ही चित्रित मिलती है। समष्टि रूप मे साहित्य मानवता का दर्पण है। भिन्न-भिन्न जातियाँ उत्पन्न हुई और नष्ट हुई, आज उनकी कृतियो का पता नही है। परन्तु साहित्य मे वे अब भी अपना अस्तित्व बनाये हुई है। विज्ञान का एक आविष्कार आज हुआ, कल दूसरा अधिक उपयोगी अथवा सार्थक आविष्कार हुआ है, बस आज की बात कल भुला दी गई। उसका प्रयोजन

ही नष्ट हो गया। परन्तु साहित्य मे नाश किसी का नही होता, वह सबके सहित, सब दिन सतत जागरित रूप मे विद्यमान रहता है। साहित्य की यह सार्वभौमिकता कभी भुलाई नही जा सकती। मनुष्य समाज की यह अक्षय निधि नित्यप्रति हमारे व्यवहार के लिये खुली हुई है।

अपने व्यापक रूप मे साहित्य सम्पूर्ण भावजगत् को स्पर्श करता है। सस्कृत मे तो अधिकतर काव्य, नाटक, चपू आदि को ही काव्य कहने की परिपाटी है परन्तु इस अध्याय मे सर्वत्र उसका व्यवहार अधिक विस्तृत अर्थ मे किया गया है। तार्किक श्रेणी विभाजन, शास्त्रीय विचार-पुष्टि अथवा वैज्ञानिक अनुसधानो के वर्गीकरण आदि को छोडकर शेष अधिकाश विषयो के ग्रथ-हमारे भावजगत् से सम्बन्ध रखते हैं। उन्ही की साहित्य सज्ञा है। जिन ग्रथो मे ग्रथकार का आशय किसी निश्चित सिद्धान्त का अवयव सघटन करके तर्क-सम्मत प्रमाण उपस्थित करना मात्र नही है उन सब मे साहित्य का भाव-सौन्दर्य किसी न किसी रूप मे देख ही पडता है। इस दृष्टि से हमारी साहित्य-सामग्री कितनी विशाल है, यह हम सहज ही समझ सकते है। प्राचीन काल से अब तक उस अपार सामग्री को प्रकाशित करके मनुष्य जाति ने कितना बडा भाडार भर दिया है। कविता, नाटक, गद्य, पद्य, इतिहास, पुराण, काव्य, गीत, ये ही नही, साहित्य के अन्य अनेक रूप है, इन सब मे ही सन्निविष्ट उसकी ज्ञानराशि, उसकी आशा-निराशा, उसकी सौदर्य लालसा, उसके जीवन का प्रत्येक सजीव अग अपनी-अपनी शोभा दिखा रहा है। कितनी जातियो ने, कितनी भाषाओ मे, कितनी लिपियो मे, कितनी रीतियो से अपने भावकुसुम सजाकर रखे है। साहित्य की यह प्रदर्शनी अपार शोभाशालिनी है, इसकी ओर किसकी दृष्टि आकर्षित होकर किसका मन मुग्ध न होगा!! इस विचार के अनुसार कुछ साहित्य-शास्त्रियो ने शास्त्र को दो भागो मे बाँटा है। एक ज्ञान का साहित्य और दूसरा शक्ति या भाव का साहित्य। ज्ञान के साहित्य मे ज्यो-ज्यो ज्ञान बढता जाता है तथा नई बातो का पता लगता जाता है त्यो-त्यो इसकी वृद्धि होती जाती है, पर भाव या शक्ति के साहित्य के सम्बन्ध मे यह बात नही है। वह सृष्टि के आदि से लेकर अब तक ज्यो का त्यो बना हुआ है। हाँ, उसके प्रदर्शन,

उसकी अभिव्यक्ति के ढग मे काल, देश तथा व्यक्ति के अनुसार परिवर्तन होता रहता है और जब तक वह सजीव है, होता रहेगा।

साहित्य

अगरेजी के 'लिटरेचर' शब्द की भाँति हिन्दी का साहित्य शब्द भी अब दो विभिन्न अर्थो मे प्रयुक्त होने लगा है। बोलचाल की भाषा मे हम किसी भी छपी हुई पुस्तक को साहित्य की सज्ञा देते है, यहाँ तक कि दवाइयो के साथ आने वाले छपे हुए पर्चे भी साहित्य कहलाते है। किन्तु, दूसरे और अधिक उपयुक्त अर्थ मे साहित्य से उन्ही पुस्तको का बोध होता है जिनमे कला का समावेश है।

अधिकतर पुस्तके पाठको की ज्ञानवृद्धि के लिये लिखी जाती हैं। इन पुस्तको के लेखक का उद्देश्य पढने वालो की जानकारी बढाने का होता है। इतिहास लिखने वाले का आशय होता है कि लोग विगत काल की घटनाओ और महापुरुषो के विषय मे कुछ जान जाएँ, भूगोल सम्बन्धी पुस्तको का लेखक पाठको को संसार के विविध देशो का परिचय कराना चाहता है और ज्योतिष-शास्त्र की पुस्तके हमे ग्रहो और नक्षत्रो की अवस्था का ज्ञान कराती है। इसी प्रकार विज्ञान की जितनी पुस्तके है सभी मनुष्य की जानकारी से सम्बन्ध रखती हैं और उसके ज्ञान की सीमा अधिक विस्तृत करती है। ये पुस्तके, जिनका सम्बन्ध मनुष्य के ज्ञान मात्र से है, साहित्य की गणना मे नही आती। साहित्य का उद्देश्य केवल मनुष्य के मस्तिष्क को सतुष्ट करना नही है, वह तो मनुष्य जीवन को अधिक सुखी और अधिक सुन्दर बनाने की चेष्टा करता है। साहित्य के सहारे मनुष्य जीवन के दु ख और सङ्कटो को क्षण भर के लिये भूल सकता है, वह आँपदाओ से भरे हुए वास्तविक ससार को छोड कर कल्पना और भावना के सुन्दर लोक मे भ्रमण कर सकता है। वास्तव मे साहित्य की सीमा के अन्तर्गत उन्ही पुस्तको की गणना हो सकती है जो इस महान् उद्देश्य की पूर्ति करती है या इस पूर्ति के आदर्श को सामने रख कर लिखी गई है। इसका अर्थ यह नही है कि हमारे बेकारी के क्षण काटने के लिये जो कुछ भी लिख दिया जाय वह साहित्य हो जायगा। साहित्य और सुरुचि का अभेद्य सम्बन्ध है

और 'साहित्य को हमारी उस रुचि को तृप्त करने मे समर्थ होना चाहिए जिसको हम अपने या किसी दूसरे के सामने प्रकट करने मे लज्जित न हो ।'

'काव्य' शब्द का वही अर्थ है जो साहित्य शब्द का वास्तविक अर्थ है। साहित्य-दर्पणकार ने काव्य को 'रसात्मक वाक्य' बताया है अर्थात् काव्य के द्वारा पाठक अथवा श्रोता के चित्त मे रस की उत्पत्ति होती है। रस की उत्पत्ति का अर्थ है आनन्दपूर्ण एक विशेष मानसिक अवस्था का उत्पन्न हो जाना। 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है' यह परिभाषा 'रसगगाधर' नामक ग्रथ की है। 'रमणीय अर्थ के प्रतिपादन' का आशय है सौन्दर्य की सृष्टि करके पाठक तथा श्रोता के मन मे आनन्द उत्पन्न करना। काव्य के लिये यह आवश्यक नही है कि वह किमी प्रकार के ज्ञान की अवगति करावे। उसके लिये सबसे आवश्यक और विशेप बात यही है कि वह अपने विषय तथा वर्णनशैली से पढने वालो के हृदय मे उस आनन्द का प्रवाह बहाए जो रसानुभव या रसपरिपाक से उत्पन्न है। अथवा दूसरे शब्दो मे इस तरह कह सकते है कि काव्य वह है जो हृदय मे अलौकिक आनन्द या चमत्कार की सृष्टि करे। इस प्रकार हम देखते है कि काव्य कला है और 'काव्य' शब्द साहित्य का समानार्थक है। बहुत से लोग 'काव्य' को कविता के अर्थ मे प्रयुक्त करते है, किन्तु यह ठीक नही है, क्योकि कविता काव्य का एक अग मात्र है। कविता के अतिरिक्त अनेक प्रकार की रचनाएँ काव्य अथवा साहित्य की श्रेणी मे आती है। किसी पुस्तक को हम साहित्य या काव्य की उपाधि तभी दे सकते है जब जो कुछ उसमे लिखा गया है वह कला के उद्देश्यो की पूर्ति करता है। यही एकमात्र उचित कसौटी है। साहित्य के अन्तर्गत कविता, नाटक, चपू, उपन्यास, आख्यायिकाएँ आदि सभी आ जाते है। ज्योतिष, गणित, व्याकरण, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीति के ग्रथ माहित्य मे परिगणित नही हो सकते।

मनुष्य स्वभाव मे ही क्रियाशील प्राणी है, उसके लिये चुपचाप बैठा रहना असम्भव है। वह कुछ करने और कुछ उत्पन्न करने के लिये व्याकुल रहता है। मनुष्य स्वभाव की एक और विशेषता यह है कि वह अपने को प्रकट किये बिना नही रह सकता। असभ्य से असभ्य जगली लोगो से लेकर ससार के अत्यन्त

सभ्य लोगो तक मे अपने विचारो और मनोभावो को प्रकट करने की प्रबल इच्छा प्रस्तुत रहती है। मानव-स्वभाव की इन्ही दोनो विशेषताओ की प्रेरणा से साहित्य का निर्माण होता है। साहित्य मन और स्वभाव की उपज है। इसलिये, जिन बातो का प्रभाव मनुष्य के स्वभाव और मनुष्य के जीवन पर पडता है उनका प्रभाव साहित्य पर भी पडता है। साहित्य को इस भाँति प्रभावित करने वाले कुछ तत्वो पर हम यह विचार करेंगे।

साहित्य और साहित्यकार का व्यक्तित्व

साहित्य पर सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव साहित्यकार के व्यक्तित्व का पडता है। साहित्यकार जो कुछ लिखता है उस पर उसके अनुभव, विचारो और मनोभावो की अटल छाप लगी रहती है। वह मनुष्यमात्र की आकाक्षाओ, इच्छाओ और भावनाओ को प्रकट करता करता है, किन्तु वह सबको अपने ढग से स्वरूप देकर अपनी रुचि के अनुसार उपस्थित करता है। जहाँ उसने अपने आपको न पहचान कर और अपनी रुचि को दबा कर कृत्रिम स्वर से गाना प्रारभ किया, तुरन्त वह अपने पथ से भ्रष्ट हो जाता है और उसकी कृति अपना मूल्य खो बैठती है। साहित्यकार मे स्वानुभूति एक अत्यन्त आवश्यक गुण है, और अनुचित रीति से दूसरे का पदानुगामी होना अक्षम्य दोष है। ससार के जितने बडे-बडे साहित्यकार हुए है उनकी रचनाओ मे एक विशेषता होती है जो बाह्य कारणो और परिस्थितियो से परे है। उसका सम्बन्ध सीधा लेखक की मनोवृत्तियो और जीवन से होता है। इसी विशेषता के द्वारा हम किसी लेखक की रचना को पहचानते है। तुलसीदास की कविता मे कुछ ऐसी विशेषता है जो उसी काल के दूसरे हिन्दी कवियो मे नही है। शेक्सपियर के नाटक उस समय के दूसरे अँग्रेजी नाटककारो की रचनाओ से बहुत-सी बातो मे समानता रखते हुए भी विभिन्न है। इस प्रकार की विशेषता, व्यक्तित्व की यह छाप कुछ विशेष प्रकार की रचनाओ मे अधिक स्पष्ट दिखाई पडती है। आत्माभिव्यजक साहित्य मे, जैसे कि मुक्तक, हम लेखक के उद्‌गारो से सीधे सम्पर्क मे आते है, हम उसके व्यक्तित्व से सीधा परिचय प्राप्त करते है। इसके विपरीत जब साहित्यकार किसी बाह्य पदार्थ अथवा घटना का आश्रय लेकर रचना करता

पडता है—एक तो उसके परपरागत जीवन पर अर्थात् उसके जातीय भाव पर और दूसरे उस जीवन के परिवर्तनशील रूप पर, अर्थात् इस बात पर कि वह जातीय जीवन किस प्रकार भिन्न-भिन्न समयो के भावो को अपने मे अतर्हित करके उन्हे व्यजित करता है अतएव किसी जाति के काव्य-समूह या साहित्य के अध्ययन से हम यह जान सकते हैं कि उस जाति या देश का मानसिक जीवन कैसा था और वह क्रमश किस प्रकार विकसित हुआ।

जातीय साहित्य

पहले हमे यह जानना चाहिए कि जब हम किसी देश के जातीय साहित्य के इतिहास का उल्लेख करते है, तब उससे हमारा तात्पर्य क्या होता है, अर्थात् जब हम भारतीय आर्य जाति का साहिन्य, यूनानी साहित्य, फ्रासीसी साहित्य, या अँग्रेजी साहित्य आदि वाक्यांशो का प्रयोग करते है तथा हम कौन-सी बात व्यजित करना चाहते है। कुछ लोग कहेगे कि इन वाक्याशो का तात्पर्य यही है कि उन भाषाओ मे कौन-कौन से लेखक हुए, वे कब-कब हुए, उन्होंने कौन-कीन से ग्रथ लिखे, उन ग्रथो के गुण-दोष क्या हैं और उनके साहित्यिक भावो मे क्या-क्या परिवर्तन हुए। यह ठीक है, पर जातीय साहित्य मे इन बातो के अतिरिक्त और भी कुछ होता है। जातीय साहित्य केवल उन पुस्तको का समूह नही कहलाता जो किसी भाषा या किसी देश मे विद्यमान हो। जातीय साहित्य जाति-विशेष के मस्तिष्क की उपज और उसकी प्रकृति के उन्नतिशील तथा क्रमगत अभिव्यजन का फल है। सभव है कि कोई लेखक जातीय आदर्श से दूर जा पडा हो और उसकी यह विभिन्नता उसकी प्रकृति की विशेषता से उत्पन्न हुई हो, परन्तु फिर भी उसकी प्रतिभा मे स्वाभाविक जातीय भाव का कुछ न कुछ अश वर्तमान रहेगा ही, उसे वह सर्वथा छोड नही सकता। यदि स्वाभाविक जातीय भाव किसी काल मे वर्तमान कुछ ही चुने हुए स्वनामधन्य लेखको मे पाया जायगा तो हम कह सकेगे कि उस काल के जातीय साहित्य की वही विशेषता थी। जब हम कहते है कि अमुक काल के भारतीय आर्यों, यूनानियो या फ्रासीसियो का जातीय भाव ऐसा था तब हमारा यह तात्पर्य नही होता कि उस काल के सभी भारतीय, यूनानियो या फ्रासीसियो

के विचार, भाव या मनोवेग एक से थे। उनसे हमारा यही तात्पर्य होता है कि व्यक्तिगत विभिन्नता को छोड़कर जो साधारण भाव किसी देश और काल मे अधिकता से वर्तमान होते है वे ही भाव जातीय प्रकृति के व्यजक या बोधक होते है और उन्ही को जातीय भाव कहते है। उन्ही जातीय भावो का विवेचना-पूर्वक विचार करके हम इस सिद्धात पर पहुँचते है कि अमुक जाति के जातीय भाव ऐसे थे। उन्ही के आधार पर हम किसी जाति की शक्ति, उसकी त्रुटि और उसकी मानसिक तथा नैतिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करते है तथा इस बात का अनुभव करते है कि उस जाति ने ससार की मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति मे कहाँ तक योग दिया। मध्यकाल अर्थात् सन् ईसवी की दसवी से चौदहवी शताब्दियो के बीच यूरोप मे किसी नवयुवक की शिक्षा तब तक पूर्ण नही समझी जाती थी, जब तक वह यूरोप के सभी मुख्य-मुख्य देशो मे पर्यटन न कर आता था। इसका उद्देश्य यही था कि वह अन्य देशो के निवासियो, उनकी भाषाओ, उनके रीति-रिवाज तथा उनकी सार्वजनिक सस्थाओ आदि का ज्ञान प्राप्त कर ले, जिसमे पारस्परिक तुलना से वह अपने जातीय गुण-दोषो का ज्ञान प्राप्त कर सके और अपने शील-स्वभाव तथा व्यवहार को परिमार्जित एव सुन्दर बना सके। साहित्य का अध्ययन भी एक प्रकार का पर्यटन या देशदर्शन ही है। उसके द्वारा हम अन्य देशो और अन्य जातियो के मानसिक तथा आध्यात्मिक जीवन से परिचय प्राप्त करते और उनसे निकटस्थ सम्बन्ध स्थापित करके उपार्जित ज्ञान-भाडार के रसास्वादन मे समर्थ होते है। देशदर्शन के लिए की गई साधारण यात्रा और साहित्यिक यात्रा मे बडा भेद है। साधारण यात्रा तो हम किसी निर्दिष्ट काल मे ही कर सकते है, पर साहित्यिक यात्रा के लिये काल का कोई बन्धन नही होता। यह यात्रा हम चाहे जिस काल मे कर सकते है। तात्पर्य यह कि हम किसी भी जाति की, किसी भी काल की विद्वत्मडली से, जब चाहे, परिचय प्राप्त कर सकते है। इसके लिये किसी प्रकार का अवरोध या बधन नही है।

इस प्रकार दूसरी जातियो के साहित्य के इतिहास का अध्ययन करके हम उस जाति की प्रतिभा, उसकी प्रवृत्ति, उसकी उन्नति आदि के क्रमिक विकास का इतिहास जान सकते है। इस दशा मे साहित्य इतिहास का सहायक ओर

व्याख्याता हो जाता है। इतिहास हमे यह बतलाता है कि किसी जाति ने किस प्रकार अपनी सासारिक सभ्यता को बढाया और वह क्या-क्या करने मे समर्थ हुई। साहित्य बताता है कि जाति-विशेष की आतरिक वासनाएँ, भावनाएँ, मनोवृत्तियाँ तथा कल्पनाएँ क्या थी। उनमे क्रमश कैसे परिवर्तन हुआ, सासारिक जीवन के उतार-चढाव का उन पर कैसा प्रभाव पडा और उस प्रभाव ने उस जाति के मनोविकारो और मानसिक तथा आध्यात्मिक जीवन को एक नए साँचे मे कैसे ढाला। साहित्य ही से हमे जातियो के आध्यात्मिक, मानसिक और नैतिक विकास का ठीक-ठीक पता मिलता है।

साहित्य और कला को प्रकृतिक

किसी काल के बहुत से कवियो या लेखको की कृतियो के साधारण अध्ययन से भी हमे इस बात का पता लग जाता है कि कुछ ऐसी बाते है जो उन सबकी कृतियो मे एक-सी पाई जाती है, चाहे और अनेक बातो मे विभिन्नता ही क्यो न हो। उनके अध्ययन से ऐसा प्रकट होता है कि विभिन्न होने पर भी उनमे कुछ समता है। जब हम तुलसीदास जी के ग्रथो पर विचार करते हैं, तब हमारा मन हठात् सूरदास, केशवदास, ब्रजवासीदास आदि के ग्रथो पर चल जाता है, तब हम इन सबकी तुलनात्मक जाँच करने और इनकी समता या विभिन्नता का ज्ञान प्राप्त करने मे लग जाते है। यह सम्भव है, और कभी-कभी देखने मे आता है, कि एक ही वश या माता-पिता की सतति मे जहाँ प्राय कुछ बाते समान होती है, वहाँ कोई ऐसी भी सतति जन्म लेती है जिसमे एक भी गुण सबके जैसा नही होता, उनमे सभी बातो मे औरो से भिन्नता पाई जाती है। यही बात किसी निर्दिष्ट काल के किसी विशेष ग्रथकार मे भी हो सकती है, पर साधारणत. उस काल के अधिकाश ग्रथकारो मे कोई न कोई सामान्य गुण होता ही है। इसी सामान्य गुण को हम उस काल की प्रकृति या भाव कह सकते है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास ध्यान पूर्वक पढने से यह विदित होता है कि हम उसे भिन्न-भिन्न कालो मे ठीक-ठीक विभक्त नही कर सकते। उस साहित्य का इतिहास एक बडी नदी के प्रवाह के समान है जिसकी धारा उद्गम स्थान

मे तो बहुत छोटी होती है, पर आगे बढकर और छोटे-छोटे टीलो या पहाडियो के बीच मे पड जाने पर वह अनेक धाराओ मे बहने लगती है। बीच-बीच मे दूसरी छोटी-छोटी नदियाँ कही तो आपस मे दोनो का सम्बन्ध करा देती है, और कहीं कोई धारा प्रबल वेग से बहने लगती है और कोई मद गति से, कही खनिज पदार्थों के ससर्ग से किसो धारा का जल गुणकारी हो जाता है और कही दूसरी धारा के गदले पानी या दूषित वस्तुओ के मिश्रण से उसका जल अपेय हो जाता है। साराश यह कि जैसे एक ही उद्गम से निकलकर एक ही नदी अनेक रूप धारण करती है और कहीं पीनकाय तथा कही क्षीणकाय होकर प्रभावित होती है, और जैसे कभी-कभी जल की एक धारा अलग होकर सदा अलग हो बना रहती है और अनेक भूभागो मे से होकर बहती है, वैसे ही हिंदी साहित्य का इतिहास भी आरभिक अवस्था से लेकर अनेक धाराओ के रूप मे प्रवाहित हो रहा है। प्रारभ मे कवि लोग स्वतन्त्र राजाओ के आश्रित होकर उनके कीर्ति-गान मे लगे और देश का इतिहास कविता के रूप मे लिखते रहे। उधर योगियो की एक अलग धारा भी प्रवाहित होती रही। समय के परिवर्तन से साहित्य की यह स्थूल धारा क्रमश. क्षीण होती गई, क्योकि उसका जल खिचकर भगवद्भक्तिरूपी धारा, पहले कबीर तथा जायसी और पीछे रामानद और वल्लभाचार्य के अवरोध के कारण चार धाराओ मे विभक्त होकर ज्ञान और प्रेम तथा रामभक्ति और कृष्ण-भक्ति के रूप मे परिवर्तित हो गई। फिर आगे चलकर अन्य कवियो के प्रतिभा-प्रवाह ने इन दोनो धाराओ के रूप बदल दिये। जहाँ पहले भाव-व्यजना तथा विचारो के प्रत्यक्षीकरण पर विशेष ध्यान रहता था, वहाँ अब साहित्य-शास्त्र के अग प्रत्यग पर जोर दिया जाने लगा। रामभक्ति की साहित्यधारा तो, तुलसीदास के समय मे, खूब उमड़ चली। उसने अपने अमृतोपम भक्तिरस के द्वारा देश को आप्लावित कर दिया और उसके सामने मानवजीवन का सजीव आदर्श उपस्थित कर दिया। साहित्य-शास्त्र की धारा उसमे अपना पानी न मिला सकी, पर कृष्णभक्ति की धारा मे उसका पानी बडे वेग से मिलता गया, अतएव उस धारा का रूप ही कुछ का कुछ, यहाँ तक कि किसी अश मे अपेय तक हो गया। कवियो को कृष्णलीला

के आक्षेप योग्य अश के अतिरिक्त और कोई ऐसा विषय ही न मिलने लगा, जिस पर वे अपनी लेखनी चलाते। बात यहाँ तक बिगडी कि कवियो को नायिकाभेद, नखशिख और पट्ऋतु के वर्णन करने मे ही अपनी सारी शक्ति लगाने मे प्रयत्नशील होना पडा। इसी बीच से मुसलमानो की राज्य-धारा के साथ विलासिता और शृगाररसप्रियता का एक और नया प्रवाह उसमे आ मिला। इस प्रकार तीन छोटी-छोटी धाराओ के मेल से बनी हुई एक बहुत बडी धारा ने कविता-सरिता के रूप मे आकाश-पाताल का अतर कर दिया। भावो की व्यजना, विचारो का प्रत्यक्षीकरण, अत करण का प्रतिबिब कविता मे न झलकने लगा। वलवत् लाए गए अलकारो ने कविता नदी को कठिनता से अवगाहन योग्य बना दिया, उन्होने उसे विशेष जटिल कर दिया। जो पहले भावव्यजना आदि के सहायक थे, वे अब स्वय राजा बन बैठे। फल यह हुआ कि कविता का स्वाभाविकता जाती रही और वह अपने आदर्श आसन से गिर गई। कवि नायिकाओ का रूप-रग वर्णन करने मे ही अपना कौशल दिखाने लगे। वे आतरिक भावो की निवृत्ति न कर सके, वे चरित्र-चित्रण और भावप्रदर्शन करना भूल गए। स्थूल दृष्टि के सामने जो कुछ आया, उसे शब्दाडबर से लपेटने मे ही वे अपनी कवित्व-शक्ति की चरम सीमा मानने लगे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न समयो मे भिन्न-भिन्न प्रभावो और कारणो के पजे मे पड कर साहित्य का रूप वदलता रहा, पर कविता-सरिता की धाराएँ बराबर बहती ही रही।

जिस काल मे जो गुण या विशेषत्व प्रबल रहता है, वही उस काल की प्रकृति या भाव कहलाता है। इस भाव या प्रकृति को हम किसी निर्दिष्ट काल के कवियो की कृति के अध्ययन से निर्धारित कर सकते है, पर हमे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हिन्दी साहित्य का इतिहास निर्दिष्ट कालो मे कठिनता से बाँटा जा सकता है। साहित्य का जो प्रभाव आरभ से बहा, वह बहता ही गया, भिन्न-भिन्न कालो मे उसके रूप मे परिवर्तन तो हुए, पर प्रवाह का मूल एक ही-सा वना रहा।

किसी निर्दिष्ट काल की प्रकृति जानने मे हमे कवि-विशेष ही की कृति पर

अवलम्बित न होना चाहिए, चाहे वह कवि कितना ही बडा, कितना हो प्रभाव-शाली और काव्य कला के ज्ञान से कितना ही सपन्न क्यो न हो। हमे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह कवि भी तत्कालीन सामाजिक जीवन और सासारिक परिस्थिति से बचा नही रह सकता, उसकी सत्ता स्वतन्त्र नही हो सकती, वह भी जाति के क्रमिक विकास की शृङ्खला के बन्धन के बाहर नही जा सकता। इस बात को ध्यान मे रखने से ही हम उसके ग्रथो के अध्ययन से जातीय विकास का ज्ञान प्राप्त करने मे समर्थ हो सकते है। भूषण और हरिश्चन्द्र के ग्रथो का तुलनात्मक अध्ययन करके हम जान सकते है कि उनके समयो की स्थिति और तत्कालीन जातीय सत्ता मे कितना अन्तर था।

अतएव कवि अपने समय की स्थिति के सूचक होते है। उनकी कृतियाँ उनके समय का प्रतिबिम्ब दिखाने मे आदर्श का काम देती है। उनके आश्रय से हम अपने अनुसधान मे अग्रसर हो सकते है और उन्हे आधार मानकर साहित्य के इतिहास को भिन्न-भिन्न कालो मे विभक्त कर सकते है। यह काल-विभाग अपने-अपने समय के कवियो के विशेष-विशेष गुणो के कारण स्पष्टतापूर्वक निर्दिष्ट किया जा सकता है। कविता के विषय, विषय-प्रतिपादन की प्रणाली, भाव-व्यजना के ढग आदि की ही गणना गुण विशेषो मे है। वे ही एक काल के कवियो को दूसरे काल के कवियो से पृथक् कर देते हैं। जैसे प्रत्येक ग्रथ मे उसके कर्त्ता का आतरिक रूप प्रच्छन्न रहता है और प्रत्येक जातीय साहित्य मे उस जाति की विशेषता छिपी रहती है, वैसे ही किसी काल के साहित्य मे परोक्ष रूप से उस काल की विशेषता भी गर्भित रहती है। किसी काल के सामाजिक जीवन की विशेषता अनेक रूपो मे व्यजित होती है, जैसे राजनीतिक सघटन, धार्मिक विचार, आध्यात्मिक कल्पनाएँ आदि। इन्ही रूपो मे से साहित्य भी एक रूप है, जिस पर अपने काल की जातीय स्थिति की छाप रहती है। उसका विचार-पूर्वक अध्ययन करने मे वह छाप स्पष्ट दिखाई देने लगती है।

इस विवेचन से यह ज्ञात होता है कि किसी कवि या ग्रन्थकार पर तीन मुख्य बातो का प्रभाव पडता है। वे ही उसके कृतिजन्य रूप को स्थिर करने मे सहायक होती है। वे तीन बातें है जाति, स्थिति और काल। जाति से

साहित्य का विकास

हमारा तात्पर्य किसी जन-समुदाय के स्वभाव से है। स्थिति से तात्पर्य उस सामाजिक, धार्मिक और प्राकृतिक अवस्था से है जो उस जन-समुदाय पर अपना प्रभाव डालती है और काल से तात्पर्य उस समय के जातीय विकास की विशेषता से है। स्मरण रहे कि यद्यपि ये तीनो ही बाते जातीय साहित्य के विकास और ग्रथकारो के विशेषत्व के उपादान मे साधारणतः सहायक हो सकती है और होती भी है पर इसका यह अर्थ नही कि सभी ग्रथकार इन्ही तीन शक्तियो के अधीन या इनसे प्रेरित होकर ग्रथ-रचना करते है। क्योकि यदि हम यह मान लेंगे, तो किसी कवि या ग्रथकार की व्यक्तिगत सत्ता अथवा विशेषता का सर्वथा लोप हो जायगा, और जहॉ इसका लोप हुआ, वही वास्तविक काव्य का भी लोप हो गया, समझिए। साधारण लेखको की अपेक्षा प्रतिभाशाली लेखको के लेखो मे कुछ विशेष प्रकार के गुण पाए जाते है। अतएव यदि पूर्वनिर्दिष्ट सिद्धात सर्वत्र चरितार्थ हो सकेगा, तो महाकवियो और प्रख्यात लेखको की विशिष्टता ही नष्ट हो जायगी। यह अवश्य सच है कि साधारण श्रेणी के ग्रथकार या कवि अपने समय की प्रकृति या स्थिति के द्योतक होते हैं, पर सच्चे प्रतिभावान् लेखक या कवि के लिए यह बात आवश्यक नही है। सम्भव है कि उसमे वह प्रकृति या स्थिति भी लक्षित होती हो, पर उसकी विशेषता तो इसी मे है कि वह किसी अभिनव प्रकृति स्थिति या भाव का निर्माता हो, उस पर अपना प्रभाव डालकर उसकी प्राण-प्रतिष्ठा करने मे समर्थ हो और अपनी अलौकिक मानसिक शक्ति से उसे नया रगरूप देने—नए साँचे मे ढालने—में सफल हो। यही उसकी विशेषता, यही उसका गौरव और यही उसकी प्रतिभा का साफल्य है।

ऊपर कहे हुए सिद्धान्त के अनुसार ग्रथकार पर काल, स्थिति और जाति की प्रकृति का प्रभाव तो स्वीकृति किया जाता है, पर उस प्रकृति पर ग्रंथकार के प्रभाव की उपेक्षा की जाती है। इससे इस सिद्धात मे दोष आ जाता है। साराश यह कि प्रतिभाशाली ग्रथकार या कवि अपने काल, जाति और स्थिति की प्रकृति द्वारा निर्मित ही नही होता, वह उसका निर्माण भी करता है। वह

केवल उनके प्रभावान्वित होने वाला ही नही उन पर प्रभाव डालने वाला भी है। ग्रथकार या कवि की विशेष सत्ता की उपेक्षा न की जानी चाहिए, किन्तु उसे ध्यान मे रखकर साहित्य के विकास का रूप या इतिहास प्रस्तुत करना चाहिए।

जातीय साहित्य का अध्ययन

जिस प्रकार किसी ग्रथकर्त्ता की कृतियो के अध्ययन मे तुलनात्मक और आनुपूर्व्य प्रणालियो के अनुसरण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार किसी जाति के साहित्य के अध्ययन मे भी हमे उन्ही प्रणालियो के अनुसरण की आवश्यकता है। इन प्रणालियो का अवलबन किए बिना काम ही नही चल सकता। तथ्याश जाना ही नही जा सकता। जब हम किसी निर्दिष्ट काल के साहित्य का मिलान किसी दूसरे निर्दिष्ट काल के साहित्य से करते है, तब हम उन दोनो मे प्राय कुछ बाते तो समान और कुछ विभिन्न पाते है। आपस मे उनका मिलान करना और उस मिलान का ठीक-ठीक फल समझना हमारा कर्त्तव्य है। समय के प्रभाव से विचारो, भावो और आदर्शो मे परिवर्तन हो जाता है। साथ ही उन्हे प्रदर्शित या व्यजित करने के ढग भी परिवर्तन हो जाता है। कभी-कभी तो ऐसा जान पडने लगता है कि हमारे पूर्ववर्ती ग्रथकारो मे और हममे बडा अन्तर हो गया है। साहित्य का अध्ययन यही काम देता है। उसी से उस परिर्वन का अन्तर और इस अन्तर का कारण समझ मे आता है। वही हमे यह जानने मे समर्थ करता है कि उन परिवर्तनो के आधारभूत कौन-कौन से कारण या अवस्थाएँ है और विभिन्न होने पर भी कैसे वे एक ही विचार शृखला की कडियाँ है, जिन पर निरतर काम मे न आने से जग-सा लग गया है और जो जीर्ण-सी प्रतीत होती है।

साहित्य पर विदेशी प्रभाव

जब दो जातियो मे परस्पर सम्बन्ध हो जाता है—चाहे वह सम्बन्ध मित्रता का हो, चाहे आधीनता का हो, चाहे व्यवहार या व्यवसाय का हो—तब उनमे परस्पर भावो, विचारो आदि का विनिमय होने लगता है। जो जाति अधिक शक्तिशालिनी होती है, उसका प्रभाव शीघ्रता से पडने लगता है, और जो कम शक्तिशालिनी या नि सत्व होती है, अथवा जो

चिरकाल से पराधीन होती है, वह शीघ्रता से प्रभावान्वित होने लगती है। पराधीन जातियो मे मानसिक दासत्व क्रमश. बढकर इतना व्यापक हो जाता है कि शासित लोग शासको की नकल करने मे ही अपने जीवन की कृतकृत्यता समझते है। अविकसित जातियाँ दूसरी जातियो की सभ्यता का मर्म समझने मे समर्थ नही होती। उन पर तो शारीरिक शक्ति का ही अधिक प्रभाव पडता है। समशक्तिशालिनी जातियो मे यह विनिमय परस्पर हुआ ही करता है। अथवा यह कहना चाहिए कि जो बात जिस जाति में स्पृहणीय या उत्कृष्ट होती है, उसे दूसरी जाति ग्रहण कर लेती है। इन बातो को ध्यान मे रखकर हम किसी साहित्य के अध्ययन से यह जान सकते हैं, कि कहाँ तक किस जाति के साहित्य पर विदेशी प्रभाव पडा है। भारतवर्ष के पश्चिमी अचल मे पहले पहल यूनानियो का आगमन हुआ और बहुत समय तक उनका आवागमन होता रहा। अतएव उनकी सभ्यता और कारीगरी का प्रभाव यहाँ की ललित कलाओ पर बहुत अधिक पडा। जहाँ यूनानियो का प्रभाव अधिक व्यापक और स्थायी था, वहाँ की ललित कला के रूप मे विशेष परिवर्तन हुआ। उस समय के उप परिवर्तन के अवशिष्ट चिह्न अब तक, विशेष कर के मूर्तियो मे, दिखाई पडते है। गाधार प्रदेश मे मिली हुई पुरानी मूर्तियाँ यूननी प्रभाव से अधिक प्रभावान्वित पाई जाती है। उनकी काट-छाँट तथा आकृति मे जो सुदरता दृष्टिगोचर होती है, वह दक्षिणी या मध्य भारत मे निर्मित मूर्तियो मे नही दिखाई पडती। मुसलमानो के राजतत्वकाल मे भारतवासियो पर उनका भी प्रभाव पडा। यह प्रभाव सैकडो वर्षों तक बराबर पडता ही गया। फल यह हुआ कि वह अधिक स्थायी और व्यापक हुआ। अन्य वस्तुओ या विषयो पर पडे हुए इस प्रभाव की विशेष विवेचना हम नही करते। हम केवल अपनी काव्य-कला का ही निदर्शन करते हैं उसकी स्थूल विवेचना से भी हमें यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि उसमे श्रृङ्गार-रस का जो इतना आधिक्य है, वह बहुत कुछ उसी प्रभाव का फल है। अगरेजो के आगमन, सपर्क और सत्ता का प्रभाव उससे भी बढकर पडा। हमारे गद्य-साहित्य का विकास तो उन्ही के ससर्ग का प्रत्यक्ष प्रमाण है। हमारे विचारो, मनोभावो, आदर्शों और सस्थाओ पर भी

उन्होंने अपने प्रभाव की स्थायी छाप लगा दी । उन्होंने तो यहाँ तक हमारी सभ्यता पर छाप मारा कि जिधर देखिए उधर ही उनका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । बात यह हुई कि हमारी जाति कुछ समय पहले से ही सुषुप्तावस्था मे पडी थी । इस कारण यह प्रभाव अधिक शीघ्रता से दूर-दूर तक व्यापक हो गया । जब जागृति के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे, तब एक ओर तो इस प्रभाव का अवरोध होने लगा और दूसरी ओर उसके पृष्ठपोषक उसे स्थायी बना रखने के लिए उद्योगशील होने लगे । साहित्य का अध्ययन करने वाले, उसका मर्म समझने वाले तथा उसके विकास का सच्चा स्वरूप पहचानने वाले के लिए यह परम आवश्यक है कि वह विदेशी प्रभाव की विवेचना करे और देखे कि यह प्रभाव साहित्य पर किस प्रकार पडा और किस प्रकार उसने यहाँ के लोगो के आदर्शों, विचारो, मनोभावो और लेखनशैली मे परिवर्तन कर दिया । उसे यह भी देखना और बताना चाहिए कि इस परिवर्तन के कारण हमारे काव्य पर साहित्य मे कहाँ तक चारुता या विरूपता आई । अतएव साहित्य के अध्ययन मे यह भी आवश्यक है कि हम उन जातियो के साहित्य के इतिहास से अभिज्ञता प्राप्त करे जिनसे हमारा सम्बन्ध हुआ है । ऐसा किए बिना हमारा विवेचन अपूर्ण और अल्पोपयोगी होगा ।

रामचन्द्र शुक्ल
(१८४१-१९९८) सं०

गोस्वामी तुलसीदास

तुलसी की भावुकता

प्रबधकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलो को पहचान सका है या नही। राम-कथा के भीतर ये स्थल अत्यत मर्मस्पर्शी हैं—राम का अयोध्या-त्याग और पथिक के रूप मे वन-गमन, चित्रकूट मे राम और भरत का मिलन, शबरी का आतिथ्य, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप, भरत की प्रतीक्षा। इन स्थलो को गोस्वामीजी ने अच्छी तरह पहचाना है, इनका उन्होंने अधिक विस्तृत और विशद वर्णन किया है।

एक सुन्दर राजकुमार के छोटे भाई और स्त्री को लेकर घर से निकलने और वन-वन फिरने से अधिक मर्मस्पर्शी दृश्य क्या हो सकता है? इस दृश्य का गोस्वामीजी ने मानस, कवितावली और गीतावली तीनो मे अत्यन्त सहृदयता के साथ वर्णन किया है। गीतावली मे तो इस प्रसग के सबसे अधिक पद हैं। ऐसा दृश्य स्त्रियो के हृदय को सबसे अधिक स्पर्श करनेवाला, उनकी प्रीति, दया और आत्मत्याग को सबसे अधिक उभारनेवाला होता है, यह बात समझकर मार्ग मे उन्होंने ग्राम-वधुओ का सन्निवेश किया है। ये स्त्रियाँ रामजानकी के अनुपम सौन्दर्य पर स्नेह-शिथिल हो जाती है, उनका वृत्तात सुनकर राजा की निष्ठुरता पर पछताती है, कैकेयी की कुचाल पर भला-बुरा कहती है। सौदर्य के साक्षात्कार से थोडी देर के लिए उनकी वृत्तियाँ कोमल हो जाती हैं। वे अपने को भूल जाती हैं। यह कोमलता उपकार-बुद्धि की जननी है—

सीता-लषन सहित रघुराई। गाँव निकट जब निकसहिं जाई॥
सुनि सब बाल-वृद्ध नर-नारी। चलहिं तुरत गृह-काज बिसारी॥
राम-लषन-सिय रूप निहारी। पाइ नयन-फल होहिं सुखारी॥
सजल बिलोचन पुलक सरीरा। सब भए मगन देखि दोउ बीरा॥
रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे॥
एक देखि बट-छाँह भलि, डासि मृदु तृनल पात।
कहहिं "गँवाइय छिनुक स्रम, गवनब अबहिं कि प्रात॥"

राम-जानकी के अयोध्या से निकलने का दृश्य वर्णन करने मे गोस्वामीजी ने कुछ उठा नही रखा। सुशीलता के आगार रामचन्द्र प्रसन्नमुख निकलकर दास-दासियो को गुरु के सपुर्द कर रहे हैं, सबसे वही करने की प्रार्थना करते हैं जिससे राजा का दु ख कम हो। उनकी सर्वभूतव्यापिनी सुशीलता ऐसी है कि उनके वियोग मे पशु-पक्षी भी विकल हैं। भरतजी जब लौटकर अयोध्या आए, तब उन्हे सर-सरिताएँ भी श्रीहीन दिखाई पडी, नगर भी भयानक लगा। भरत को यदि राम-गमन का सवाद मिल गया होता तो हम इसे भरत के हृदय की छाया कहते। पर घर मे जाने के पहले उन्हे कुछ भी वृत्त ज्ञात नही था। इससे हम सर-सरिता के श्रीहीन होने का अर्थ उनकी निर्जनता, उनका सन्नाटा-पन लेंगे। लोग राम-वियोग मे विकल पडे हैं। सर-सरिता मे जाकर स्नान करने का उत्साह उन्हे कहाँ ? पर यह अर्थ हमारे आपके लिये है। गोस्वामीजी ऐसे भावुक महात्मा के निकट तो राम के वियोग मे अयोध्या की भूमि ही विषाद-मग्न हो रही है, आठ-आठ आँसू रो रही है।

चित्रकूट मे राम और भरत का जो मिलन हुआ है, वह शील और शील का, स्नेह और स्नेह का, नीति और नीति का मिलन है। इस मिलन से सघटित उत्कर्ष की दिव्य प्रभा देखने योग्य है। यह झाँकी अपूर्व है ! 'भायप भगति' से भरे भरत नगे पाँव राम को मनाने जा रहे हैं। मार्ग मे जहाँ सुनते है कि यहाँ पर राम-लक्ष्मण ने विश्राम किया था, उस स्थल को देख आँखो मे आँसू भर लेते हैं।

राम-बासथल बिटप बिलोके। उर अनुराग रहत नहिं रोके॥

मार्ग मे लोगो से पूछते जाते हैं कि राम किस वन मे हैं। जो कहता है कि हम उन्हे सकुशल देखे आते है, वह उन्हे राम-लक्ष्मण के समान ही प्यारा लगता है। प्रिय-सबधी आनद के अनुभव की आशा देनेवाला एक प्रकार से उस आनद का जगानेवाला है—'उद्दीपन' है। सब माताओ से पहले राम कैकेयी से प्रेमपूर्वक मिले। क्यो ? क्या उसे चिढाने के लिये ? कदापि नही। कैकेयी से प्रेमपूर्वक मिलने की सबसे अधिक आवश्यकता थी। अपना महत्त्व या सहिष्णुता दिखाने के लिये नही, उसके परितोष के लिये। अपनी करनी पर कैकेयी को जो ग्लानि थी, वह राम ही के दूर किए हो सकती थी, और किसी के किए नही। उन्होने माताओ से मिलते समय स्पष्ट कहा था—

अंब ! ईस-आधीन जग काहु न देइय दोषु।

कैकेयी को ग्लानि थी या नही, इस प्रकार के सदेह का स्थान गोस्वामीजी ने नही रखा। कैकेयी की कठोरता आकस्मिक थी, स्वभावगत नही। स्वभावगत भी होती तो भी राम की सरलता और सुशीलता उसे कोमल करने मे समर्थ थी।

लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई ॥
अवनि जमहि जाचति कैकेई। महि न बीचु, विधि मीचु न देई ॥

जिस समाज के शील-सदर्भ की मनोहारिणी छटा को देख वन के कोल-किरात मुग्ध होकर सात्विक वृत्ति मे लीन हो गए, उसका प्रभाव उसी समाज मे रहनेवाली कैकेयी पर कैसे न पडता ?

(क) भए सब साधु किरात किरातिनि राम-दरस मिटि गइ कलुषाई।
(ख) कोल किरात भिल्ल बनवासी। मधु सुचि सुंदर स्वादु सुधा सी ॥
भरि भरि परन-पुटी रुचि रूरी। कंद मूल फल अंकुर जूरी ॥
सबहि देहि करि बिनय-प्रनामा। कहि कहि स्वाद भेद गुन-नामा ॥
देहि लोग बहु, मोल न लेहीं। फेरत राम दोहाई देहीं ॥

और सबसे पुलकित होकर कहते हैं—

तुम्ह प्रिय पाहुँन बन पगु धारे। सेवा जोगु न भाग हमारे ॥
देब काह हम तुम्हहि गोसाईं। ईंधन पात किरात मिताई ॥

यह हमारि अति बडि सेवकाई । लेंहि न बासन बसन चोराई ॥
हम जड़ जीव जीवघनघाती । कुटिल कुचाली कुमति कुजाती ॥
सपनेहुँ धरम-बुद्धि कस काऊ । यह रघुनंदन - दरस - प्रभाऊ ॥

उस पुण्य-समाज के प्रभाव से चित्रकूट की रमणीयता मे पवित्रता भी मिल गई । उस समाज के भीतर नीति, स्नेह, शील, विनय, त्याग आदि के सघर्ष से जो धर्म-ज्योति फूटी, उससे आस-पास का सारा प्रदेश जगमगा उठा—उसकी मधुर स्मृति से आज भी वहाँ की वनस्थली परम पवित्र है । चित्रकूट की उस सभा की कार्रवाई क्या थी, धर्म के एक-एक अग की पूर्ण और मनोहर अभिव्यक्ति थी । रामचरितमानस मे वह सभा एक आध्यात्मिक घटना है । धर्म के इतने स्वरूपो की एक साथ योजना, हृदय की इतनी उदात्त वृत्तियो की एक साथ उद्भावना, तुलसी के ही विशाल 'मानस' मे सभव थी । यह सभावना उस समाज के भीतर बहुत से भिन्न-भिन्न वर्गों के समावेश द्वारा सघटित की गई है । राजा और प्रजा, गुरु और शिष्य, भाई और भाई, माता और पुत्र, पिता और पुत्री, श्वशुर और जामातृ, सास और बहू, क्षत्रिय और ब्राह्मण, ब्राह्मण और शूद्र, सभ्य और असभ्य के परस्पर व्यवहारो का, उपस्थित प्रसग के धर्म-गाभीर्य्य और भावोत्कर्ष के कारण, अत्यत मनोहर रूप प्रस्फुटित हुआ । धर्म के उस स्वरूप को देख सब मोहित हो गए—क्या नागरिक, क्या ग्रामीण और क्या जगली । यदि भारतीय शिष्टता और सभ्यता का चित्र देखना हो तो इस राज-समाज मे देखिए । कैसी परिष्कृत भाषा मे, कैसी प्रवचन-पटुता के साथ, प्रस्ताव उपस्थित होते है, किस गभीरता और शिष्टता के साथ बात का उत्तर दिया जाता है, छोटे-बडे की मर्य्यादा का किस सरसता के साथ पालन होता है ! सबकी इच्छा है कि राम अयोध्या को लौटे, पर उनके स्थान पर भरत वन को जायँ, यह इच्छा भरत को छोड शायद ही और किसी के मन मे हो । अपनी प्रबल इच्छाओ को लिए हुए लोग सभा मे बैठते है, पर वहाँ बैठते ही धर्म के स्थिर और गभीर स्वरूप के सामने उनकी व्यक्तिगत इच्छाओ का कही पता नही रह जाता । राजा के सत्य-पालन से जो गौरव राजा और प्रजा दोनो को प्राप्त होता दिखाई दे रहा है, उसे खडित

देखना वे नही चाहते । जनक, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि धर्मतत्व के पारदर्शी जो कुछ निश्चय कर दे, उसे वे कलेजे पर पत्थर रखकर मानने को तैयार हो जाते है ।

इस प्रसग मे परिवार और समाज की ऊँची-नीची श्रेणियो के बीच कितने सबधो का उत्कर्ष दिखाई पडता है, देखिए—

(१) राजा और प्रजा का सबध लीजिए । अयोध्या की सारी प्रजा अपना सब काम-धधा छोड भरत के पीछे राम के प्रेम मे उन्ही के समान मग्न चली जा रही है और चित्रकूट मे राम के दर्शन से आह्लादित होकर चाहती है कि चौदह वर्ष यही काट दे ।

(२) भरत का अपने बडे भाई के प्रति जो अलौकिक स्नेह और भक्ति-भाव यहाँ से वहाँ तक झलकता है, वह तो सबका आधार ही है ।

(३) ऋषि या आचार्य के सम्मुख प्रगल्भता प्रकट होने के भय से भरत और राम अपना मत तक प्रकट करते सकुचाते हैं ।

(४) राम सब माताओ से जिस प्रकार प्रेम-भाव से मिले, वह उनकी शिष्टता का ही सूचक नही है, उनके अत.करण की कोमलता और शुद्धता भी प्रकट करता है ।

(५) विवाहिता कन्या को पति की अनुगामिनी देख जनकजी यह हर्ष प्रकट करते हैं—

पुत्रि ! पवित्र किए कुल दोऊ । सुजस धवल जग कह सब कोऊ ।।

वह धर्म-भाव पर मुग्ध होकर ही ।

(६) भरत और राम दोनो जनक को पिता के स्थान पर कहकर सब भार उन्ही पर छोडते है ।

(७) सीताजी अपने पिता के डेरे पर जाकर माता के पास बैठी है । इतने मे रात हो जाती है और वे असमजस मे पडती है—

कहत न सीय सकुचि मन माहीं । इहाँ बसब रजनी भल नाहीं ।।

पति तपस्वी के वेश मे भूशय्या पर रात काटे और पत्नी उनसे अलग राजसी ठाट-बाट के बीच रहे, यही असमजस की बात है ।

(८) जब से कौशल्या आदि आई हैं, तब से सीता बराबर उनकी सेवा मे लगी रहती हैं ।

(९) ब्राह्मण-वर्ग के प्रति राज वर्ग के आदर और सम्मान का जैसा मनोहर स्वरूप दिखाई पडता है, वैसी ही ब्राह्मण-वर्ग मे राज्य और लोक के हित-साधन की तत्परता झलक रही है ।

(१०) केवट के दूर से ऋषि को प्रणाम करने और ऋषि के उसे आलिगन करने मे उभय पक्ष का व्यवहार-सौष्ठव प्रकाशित हो रहा है ।

(११) वन्य कोल-किरातो के प्रति सबका कैसा मृदुल और सुशील व्यवहार है ।

कवि की पूर्ण भावुकता इसमे है कि वह प्रत्येक मानव-स्थिति मे अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। इस शक्ति की परीक्षा का रामचरित से बढकर विस्तृत क्षेत्र और कहाँ मिल सकता है ! जीवन-स्थिति के इतने भेद और कहाँ दिखाई पडते हैं ! इस क्षेत्र मे जो कवि सर्वत्र पूरा उतरता दिखाई पडता है, उसकी भावुकता को और कोई नही पहुँच सकता । जो केवल दापत्य रति ही मे अपनी भावुकता प्रकट कर सके या वीरोत्साह ही का अच्छा चित्रण कर सके, वे पूर्ण भावुक नही कहे जा सकते । पूर्ण भावुक वे ही है जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अश का साक्षात्कार कर सके और उसे श्रोता या पाठक के सम्मुख अपनी शब्द-शक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सके । हिंदी के कवियो मे इस प्रकार की सर्वाङ्गपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामीजी मे ही है जिसके प्रभाव से रामचरित-मानस उत्तरीय भारत की सारी जनता के गले का हार हो रहा है । वात्सल्य भाव का अनुभव करके पाठक तुरत बालक राम-लक्ष्मण के प्रवास का उत्साहपूर्ण जीवन देखते है, जिसके भीतर आत्मा-वलबन का विकास होता है । फिर आचार्य-विषयक रति का स्वरूप देखते हुए वे जनकपुर मे जाकर सीता-राम के परम पवित्र दापत्य-भाव के दर्शन करते हैं । इसके उपरात अयोध्या-त्याग के करुण दृश्य के भीतर भाग्य की अस्थिरता का कटु स्वरूप सामने आता है । तदनतर पथिक-वेशधारी राम-जानकी के साथ-साथ चलकर पाठक ग्रामीण स्त्री-पुरुष के उस विशुद्ध सात्विक प्रेम का

अनुभव करते हैं जिसे हम दापत्य, वात्सल्य आदि कोई विशेषण नही दे सकते, पर जो मनुष्यमात्र मे स्वाभाविक है ।

रमणीय वन-पर्वत के बीच एक सुकुमारी राजवधू को साथ लिए दो वीर आत्मावलबी राजकुमारो को विपत्ति के दिनो को सुख के दिनो मे परिवर्त्तित करते पाकर वे "वीरभोग्या वसुन्धरा" की सत्यता हृदयगम करते है । सीता-हरण पर विप्रलभ श्रृङ्गार का माधुर्य्य देख कर पाठक फिर लका-दहन के अद्भुत, भयानक और वीभत्स दृश्य का निरीक्षण करते हुए राम-रावण-युद्ध के रौद्र और युद्धवीर तक पहुँचते हैं । शातरस का पुट तो बीच-बीच मे बराबर मिलता ही है । हास्यरस का पूर्ण समावेश रामचरित-मानस के भीतर न करके नारद-मोह के प्रसग मे उन्होंने किया है । इस प्रकार काव्य के गूढ और उच्च उद्देश्य को समझनेवाले, मानव-जीवन के सुख और दु.ख दोनो पक्षो के नाना रूपो के मर्मस्पर्शी चित्रण को देखकर, गोस्वामीजी के महत्व पर मुग्ध होते हैं, और स्थूल बहिरग दृष्टि रखनेवाले भी, लक्षण ग्रथों मे गिनाए हुए नव रसो और अलकारो पर, अपना आह्लाद प्रकट करते हैं ।

यहाँ पर कहा जा सकता है कि गोस्वामीजी मनुष्य-जीवन की बहुत अधिक परिस्थितियो का जो सन्निवेश कर सके, वह रामचरित की विशेषता के कारण । इतने अधिक प्रकार की मानव-दशाओ का सन्निवेश आपसे आप हो गया । ठीक है, पर उन सब दशाओ का यथातथ्य चित्रण बिना हृदय की विशालता, भाव-प्रसार की शक्ति, मर्मस्पर्शी स्वरूपो की उद्भावना और शब्द-शक्ति की सिद्धि के नही हो सकता । मानव-प्रकृति के जितने अधिक रूपो के साथ गोस्वामीजी के हृदय का रागात्मक सामजस्य हम देखते है, उतना अधिक हिन्दी भाषा के और किसी कवि के हृदय का नही । यदि कही सौदर्य्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्ष-पुलक, गुण है तो आदर, पाप है तो घृणा, अत्याचार है तो क्रोध, अलौकिकता है तो विस्मय, पाषड है तो कुढन, शोक है तो करुणा, आनन्दोत्सव है तो उल्लास, उपकार है तो कृतज्ञता, महत्व है तो दीनता तुलसीदासजी के हृदय मे बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से विद्यमान् है ।

गोस्वामीजी की भावात्मक सत्ता का अधिक विस्तार स्वीकार करते हुए भी

यह पूछा जा सकता है कि क्या उनके भावो मे पूरी गहराई या तीव्रता भी है ? यदि तीव्रता न होती, भावो का पूर्ण उद्रेक उनके वचनो मे न होता, तो वे इतने सर्वप्रिय कैसे होते ? भावो के साधारण उद्गार से ही सबकी तृप्ति नही हो सकती। यह बात अवश्य है कि जो भाव सबसे अधिक प्रकृतिस्थ है, उसकी व्यजना सबसे अधिक गूढ और ठीक है। जो प्रेमभाव अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ उन्होंने प्रकट किया है, वह अलौकिक है, अविचल है और अनन्य है। वह घन और चातक का प्रेम है।

एक भरोसो, एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास ।।

अपना उद्देश्य वह आप ही है। उसकी प्यास, उसकी उत्कठा सदा बनी है, इसी मे उसकी मर्य्यादा है, इसी मे उसका महत्व है—

चातक तुलसी के मते स्वातिहु पियै न पानि।
प्रेम-तृषा बाढ़ति भली, घटे घटैगी आनि ।।

प्रिय के लाख दुर्व्यवहार से भी हटनेवाला नही है—

बरषि परुष पाहन पयद पंख करौ टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिए चतुर चातकहि चूक ।।
उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर ?

वह मेघ के लोक-हितकर स्वरूप के प्रति आपसे आप है—वह जगत् के हित को देखकर है—

जीव चराचर जहाँ लग है सबको हित मेह।
तुलसी चातक मन बस्यौ घन सों सहज सनेह ।।

जगत् मे सब अपने सुख के लिये अनेक साधन और यत्न करते है और फल-प्राप्ति से सुखी होते है। फिर चातक और मेघ का यह प्रेम कैसा है जिसके भीतर न किसी सुख का साधन है, न फल की चाह ! यह ऐसा ही कुछ है—

साधन साँसति सब सहत, सबहि सुखद फल लाहु।
तुलसी चातक जलद की रीझि-बूझि बुध काहु ।।

चातक को मेघ का जीवो का सुख देना अत्यन्त प्रिय लगता है। वह जो बारहो महीने चिल्लाता रहता है, सो अधिकतर प्रिय के इस सुखदायक मनोहर रूप के दर्शन के लिये, केवल स्वाति की दो बूँदो के लिये नही—

जाँचै बारह मास, पियै पपीहा स्वाति-जल।

उसकी याचना के भीतर जगत् की याचना है, अत इस याचना से उसका मान है। इस माँगने को वह अपना माँगना नही समझता—

नहि जाँचत नहि संग्रही सीस नाइ नहि लेइ।
ऐसे मानी माँगनेहि को बारदि बिनु देइ॥

अब इस प्रेम की अनन्यता का स्वरूप देखिए—

चरग चंगुगत चातकहि नेम प्रेम की पीर।
तुलसी परबस हाड पर परिहै पुहमी नीर॥
बध्यो बधिक, पर्यो पुन्यजल, उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक-प्रेम-पट मरतहुँ लगी न खोच॥

चातक का प्रिय लोक-सुखदायी है। उसका मेघ सचमुच बडा है और सबके लिये बडा है। अत चातक के प्रेम के भीतर महत्व की आनन्दमयी स्वीकृति छिपी हुई है। इस महत्व के सम्मुख वह जो दीनता प्रकट करता है। वह सच्ची दीनता है, हृदय के भीतर अनुभव की हुई दीनता है, प्रेम की दीनता है। किसी के महत्व की सच्ची अनुभूति से उत्पन्न दीनता से भिन्न दीनता को लोभ भय आदि का बदला हुआ रूप समझिए। जिससे बडा चातक और किसी को नहीं समझता, उसे छोड यदि और किसी के सामने वह दीनता प्रकट करे तो उसकी दीनता उसके प्रेम की अनन्यता भग हो जाय। जो आज एक से कहता है कि "आपसे न माँगे तो और किससे माँगने जायँगे ?" और कल दूसरे से, वह उस दैन्य तक पहुँच ही नही सकता जो भक्ति का अग है। जिस महत्व के प्रति सच्ची दीनता प्रकट की जाती है, उसका कुछ आभास लोक को उस दीनता मे दिखाई पडता है—

तीन लोक तिहुँ काल जस चातक ही के माथ।
तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ॥

इस प्रेम के सबन्ध मे ध्यान देने की बात यह है कि यह समान के प्रति नही है, अपने से बडे या ऊँचे के प्रति है। गोस्वामीजी अपने से बडे या छोटे के साथ प्रेम करने को समान के साथ प्रेम करने से अच्छा समझते है—

कै लघु कै बड़ मीत भल, सम सनेह दुख सोइ।
तुलसी ज्यों घृत मधु सरिस मिले महाबिष होइ॥

इससे उनका भीतरी अभिप्राय यह है कि छोटे-बडे के सम्बन्ध मे धर्मभाव अधिक है। यदि प्रिय हमसे छोटा है तो उस पर जो हमारा प्रेम होगा वह दया, दाक्षिण्य, अनुकपा, क्षमा, साहाय्य इत्यादि वृत्तियो को उभारेगा, यदि प्रिय हमसे बडा है तो उस पर आलम्बित प्रेम, श्रद्धा, सम्मान, दैन्य, नम्रता, सकोच, कृतज्ञता, आज्ञाकारिता इत्यादि को जाग्रत करेगा। इसमे तो कुछ कहना ही नही कि हमारे गोस्वामीजी का प्रेम दूसरे प्रकार का था—वह पूज्य-बुद्धि-गर्भित होकर भक्ति के रूप मे था। उच्चता की जैसी प्राप्ति उच्च को आत्मसमर्पण करने से हो सकती है, वैसी समान को आत्मसमर्पण करने से नही। यह तो पहले ही दिखाया जा चुका है कि शील बाबाजी द्वारा निरूपित भक्ति के आलबन के स्वरूप के—आभ्यतर स्वरूप के सही—अन्तर्गत है। भक्ति और शील की परस्पर स्थिति ठीक उसी प्रकार बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से है जिस प्रकार आश्रय और आलम्बन की। और आगे चलिए तो आश्रय और आलम्बन की परस्पर स्थिति भी ठीक वही मिलती है जो ज्ञाता और ज्ञेय की है। हमे तो ऐसा दिखाई पडता है कि जो ज्ञान क्षेत्र मे ज्ञाता और ज्ञेय है, वही भाव-क्षेत्र मे आश्रय और आलबन है। ज्ञान की जिस चरम सीमा पर जाकर ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते है, भाव की उसी चरम सीमा पर जाकर आश्रय और आलबन भी एक हो जाते है। शील और भक्ति का अभेद देखने का इतना विवेचन बहुत है।

दांपत्य प्रेम का दृश्य भी गोस्वामीजी ने बहुत ही सुन्दर दिखाया है, पर बडी ही मर्यादा के साथ। नायिकाभेदवाले कवियो का-सा या कृष्ण की रास-लीला के रसिको का-सा लोक-मर्य्यादा का उल्लघन उसमे कही नही है। सीता-राम के परम पुनीत प्रणय की जो प्रतिष्ठा उन्होंने मिथिला मे की, उसकी

परिपक्वता जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओ के बीच पति-पत्नी के सम्बन्ध की उच्चता और रमणीयता सघटित करती दिखाई देती है। अभिषेक के राम को वन जाने की आज्ञा मिलती है। आनन्दोत्सव का सारा दृश्य करुण दृश्य मे परिणत हो जाता है। राम वन जाने को तैयार हैं और वन के क्लेश बताते हुए सीता को घर रहने के लिये कहते है। इस पर सीता कहती है—

बन-दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय-विषाद परिताप घनेरे॥
प्रभु-वियोग-लवलेस समाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना॥
कुस-किसलय-साथरी सुहाई। प्रभु सँग मंजु मनोज तुराई॥
कद-मूल-फल अमिय-अहारू। अवध-सौधसत-सरि पहारू॥
मोहिं मग चलत न होइहि हारी। छिनु-छिनु चरन-सरोज निहारी॥
पायँ पखारि बैठि तरु-छाहीं। करिहौं बाउ मुदित मन माहीं॥
बार बार मृदु मूरति जोही। लागिहि ताति बयारि न मोही॥

दु ख की परिस्थिति मे सुख की इस कल्पना के भीतर हम जीवन-यात्रा मे श्रात पथिक के लिये प्रेम की शीतल सुखद छाया देखते हैं। यह प्रेम मार्ग निराला नही है, जीवन-यात्रा के मार्ग से अलग होकर जानेवाला नही है। यह प्रेम कर्मक्षेत्र से अलग नही करता, उसमे बिखरे हुए काटो पर फूल बिछाता है। राम-जानकी को नगे पाव चलते देख ग्रामवासी कहते है—

जो जगदीश इन्हहिं बन दीन्हा।
कस न सुमनमय मारग कीन्हा॥

थोडी दूर साथ चलकर उन्होंने जान लिया होगा कि उनका मार्ग 'सुमन-मय' ही है। प्रेम के प्रभाव से जगल मे भी मगल था। सीता को तो सहस्रो अयोध्याओ का सुख वहाँ मिल रहा था—

नाह नेह नित बढ़त बिलोकी। हरषति रहति दिवस जिमि कोकी॥
सिय-मन राम-चरन-अनुरागा। अवध-सहस-सम बन प्रिय लागा॥
परन-कुटी प्रिय प्रियतम संगा। प्रिय परिवार कुरङ्ग-बिहङ्गा॥
सासु-ससुर-सम मुनितिय मुनिबर। असन अमिय-सम कंद-मूल-फर॥

अयोध्या से अधिक सुख का रहस्य क्या है? प्रिय के साथ सहयोग के

अधिक अवसर । अयोध्या मे सहयोग और सेवा के इतने अवसर कहाँ मिल सकते थे ? जीवनयात्रा की स्वाभाविक आवश्यकताओ की पूर्ति वन मे अपने हाथो से करनी पडती थी । कुटी छाना, स्थान स्वच्छ करना, जल भर लाना, ईधन और कद-मूल इकट्ठा करना इत्यादि वहाँ के नित्य-जीवन के अङ्ग थे । ऐसे प्राकृतिक जीवन मे प्रेम का जो विकास हो सकता है, वह कृत्रिम जीवन मे दुर्लभ है । प्रिय के प्रयत्नो मे ऐसे ही स्वाभाविक सहयोग की अभिलाषिणी एक ग्रामीण नायिका कहती है—

आगि लागि घर जरिगा, बड सुख कीन ।
पिय के हाथ घइलवा भरि भरि दीन ॥

दूसरा कारण इस सुख का था हृदय का प्रकृति के अनेक रूपो के साथ सामजस्य, जिसके प्रभाव से 'कुरग-बिहग' अपने परिवार के भीतर जान पडते थे । उस जगज्जननी जानकी का हृदय ऐसा न होगा तो और किसका होगा जिसे एक स्थान पर लगाए हुए फूल-पौदो को छोडकर अन्य स्थान पर जाते हुए भी दु ख होता था ।

सीताजी द्वारा श्रृङ्गार के सचारी भाव 'व्रीडा' की व्यजना के लिए कैसा उपयुक्त अवसर चुना गया है ! वन के मार्ग मे ग्रामीण स्त्रियाँ राम की ओर लक्ष्य करके सीता से पूछती है कि ये तुम्हारे कौन है । इस पर सीता—

तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी । दुहुं संकोच सकुचति बर-बरनी ॥

'बिलोकति धरनी' कितनी स्वाभाविक मुद्रा है । ! 'दुहु सँकोच' द्वारा कवि ने सीता के हृदय की कोमलता और अभिमान-शून्यता भी कैसे ढंग से व्यजित कर दी है । एक तो राम को खुले शब्दो मे अपना पति कहने मे सकोच; दूसरा सकोच यह समझकर कि यदि इन भोली-भाली स्त्रियो को कोई उत्तर न दिया जायगा तो ये मन मे दु.खी होगी और मुझे अभिमानिनी समझेगी ।

इसके आगे सीताजी में श्रृङ्गारी चेष्टाओ का विधान भी अत्यत निपुणता और भावुकता के साथ गोस्वामी जी ने किया है—

बहुरि बदन-बिधु अंचल ढांकी । पिय-तन चितै भौंह करि बाँकी ॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि । निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सैननि ॥

यदि आम रास्ते पर राम के साथ बातचीत करने मे ये चेष्टाएँ दिखाई जाती तो कुल-वधू की मर्य्यादा का भग होता और कोई विशेष निपुणता की बात न होती, रूढि का अनुसरण मात्र होता। पर बीच मे उन स्त्रियो को डाल देने से एक पर्दा भी खडा हो गया और अधिक स्वाभाविकता भी आ गई। सीता मे ये चेष्टाएँ अपने साथ राम के सम्बन्ध की भावना द्वारा उत्पन्न दिखाई पडती हैं। यदि राम-सीता के परस्पर व्यवहार मे ये चेष्टाएँ दिखाई जाती तो 'सभोगश्रृङ्गार' का खुला वर्णन हो जाता, जो गोस्वामीजी ने कही नही किया है।

अब प्रश्न यह है कि ये चेष्टाएँ 'अनुभाव' होगी या विभावातर्गत 'हाव'। हिंदी के लक्षण-ग्रथो मे 'हाव' प्राय. 'अनुभाव' के अन्तर्गत रखे मिलते हैं। पर यह ठीक नही है। 'अनुभाव' के अन्तर्गत केवल आश्रय की चेष्टाएँ आ सकती हैं। 'आश्रय' की चेष्टाओ का उद्देश्य किसी भाव की व्यजना करना होता है। पर 'हावो' का सन्निवेश किसी भाव की व्यजना कराने के लिए नही होता, बल्कि नायिका का मोहक प्रभाव बढाने के लिए, अर्थात् उसकी रमणीयता की वृद्धि के लिए, होता है। जिसकी रमणीयता या चित्ताकर्षकता का वर्णन या विधान किया जाता है, वह 'आलबन' होता है। अत· 'हाव' नामक चेष्टाएँ आलबन-गत ही मानी जायँगी और आलबन-गत होने के कारण उनका स्थान 'विभाव' के अतर्गत ही ठहरता है।

अब विचार करना चाहिए कि सीताजी की उक्त चेष्टाएँ 'अनुभाव' होगी या 'हाव'। लक्षण के अनुसार "सभोगेच्छा-प्रकाशक भ्रू नेत्रादि-विकार" ही 'हाव' कहलाते है। पर सीताजी के विकार इस प्रकार के नही हैं। वे विकार राम के साथ अपने सम्बन्ध की भावना से उत्पन्न हैं और उनके प्रति प्रेम की व्यजना करते हैं। इस प्रकार आश्रय की चेष्टाएँ होने के कारण वे विकार 'अनुभाव' ही होंगे।

सीता-हरण होने पर इस प्रेम को हम एक ऐसे मनोहर क्षेत्र का द्वार खोलते हुए पाते है जिसमे बल और पराक्रम अपनी परमावस्था को पहुँचकर अनीति और अत्याचार का ध्वम कर देता है। वन मे सीता का वियोग चारपाई पर

करवटे बदलवानेवाला प्रेम नही है—चार कदम पर मथुरा गए हुए गोपाल के लिये गोपियो को बैठे-बैठे रुलानेवाला वियोग नही है, झाडियो मे थोडी देर के लिए छिपे हुए कृष्ण के निमित्त राधा की आँखो से आसुओ की नदी बहानेवाला वियोग नही है—यह राम को निर्जन वनो और पहाडो मे घुमानेवाला, सेना एकत्र कराने वाला, पृथ्वी का भार उतरवाने वाला वियोग है। इस वियोग की गभीरता के सामने सूरदास द्वारा अकित वियोग अतिशयोक्ति-पूर्ण होने पर भी बालक्रीडा-सा लगता है।

हनुमान् के प्रकट होने के पहले जानकी उद्विग्न होकर कह रही थी—

पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानहुँ मोहि जानि हथभागी॥
सुनिय बिनय मम बिटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका॥
नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि जिनि करहि निदाना॥

इतना कहते ही हनुमान का मुद्रिका गिराना और सीता का उसे अगार समझकर हाथ मे लेना, यह सब तो गोस्वामीजी ने प्रसन्नराघव नाटक से लिया है। हनुमान् को सामने पाकर सीता उसी मर्य्यादा के साथ अपने वियोग-जनित दु ख की व्यजना करती हैं जिस मर्य्यादा के साथ माता पुत्र के सामने कर सकती है। वे पहले 'अनुज' सहित राम का (अकेले राम का नही) कुशल पूछती है, फिर कहती हैं—

कोमलचित कृपालु रघुराई। कपि, केहि हेतु धरी निठुराई॥
सहज बानि सेवक सुखदायक। कबहुँक सुरति करत रघुनायक॥
कबहुँ नयन मम शीतल ताता। होइहि निरखि स्य म मृदुगाता॥

प्रिय के कुशल-मगल के हेतु व्यग्रता भारतीय ललनाओ के वियोग का प्रधान लक्षण है। प्रिय सुख मे है या दु.ख मे है, यह सशय विरह मे दया या करुण भाव का हलका-सा मेल कर देता है। भारत की कुल-वधू का विरह आवारा आशिको-माशूको का विरह नही है, वह जीवन के गाभीर्य को लिए हुए रहता है। यह वह विरह नही है जिसमे विरही अपना ही जलना और मरना देखता है; प्रिय मरता है कि जीता है, इससे कोई मतलब नही।

पवित्र दापत्य-रति की कैसी मनोहर व्यजना उन्होने सीता द्वारा उस

समय कराई है जिस समय ग्राम-वनिताओ ने मार्ग मे राम को दिखाकर उनसे पूछा था कि "ये तुम्हारे कौन है ?"

कोटि मनोज लजावनहारे । सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ।
सुनि सनेहमय मंजुल बानी । सकुचि सीय मन महँ मुसुकानी ॥
तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनी । दुहुँ संकोच सकुचति बर-बरनी ॥
सकुचि सप्रेम बालमृगनयनी । बोली मधुर बचन पिकबयनी ॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे । नाम लषन लघु देवर मोरे ॥
बहुरि बदन- बिधु अंचल ढाँकी । पिय-तन चितै भौंह करि बाँकी ॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि । निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि ॥

कुल-वधू की इस अल्प व्यजना में जो गौरव और माधुर्य है, वह उद्धत प्रेमप्रलाप मे कहाँ ?

शोक का चित्रण भी गोस्वामीजी ने अत्यत हृदय-द्रावक पद्धति से किया है। शोक के स्थल तुलसी-वर्णित रामचरित मे दो हैं—एक तो अयोध्या में राम-वनगमन का प्रसग और दूसरा लका मे लक्ष्मण को शक्ति लगने का। राम के वन जाने पर जो दु.ख फैला, वह शोक ही माना जायगा; वह प्रिय का प्रवास-जन्य दु.ख मात्र नही है। अभिषेक के समय वनवास बडे दुःख की बात है—

कैकयनंदिनि मदमति कठिन कुटिलपन कीन्ह ।
जेहि रघुनंदन जानकिहि सुख-अवसर दुख दीन्ह ॥

अत परिजनो और प्रजा का दु.ख राम की दुःख-दशा समझकर भी था, केवल राम का अलग होना देखकर नही—

राम चलत अति भएउ विषादू । सुनि न जाइ पुर आरत नादू ॥

यह विषाद (जो शोक का सचारी है) और यह आर्त्तनाद शोक-सूचक है। प्रिय के दु.ख या पीडा पर जो दुःख हो, वह शोक है, प्रिय के कुछ दिनो के लिये वियुक्त होने मात्र का जो दु.ख हो, वह विरह है। अतः राम के इस दु ख-मय प्रवास पर जो दु.ख लोगो को हुआ, वह शोक और वियोग दोनो है।

"तुलसी राम बियोग-सोक-बास समुझत नहिं समुझाए।"
मे वियोग और शोक-सूचक वाक्य यद्यपि मिले हुए हैं, पर हम चाहे तो उन्हे अलग करके भी देख सकते है। शुद्ध वियोग—

जब जब भवन बिलोकति सूनो।
तब तब बिकल होति कौसल्या, दिनदिन प्रति दुख दूनो॥
को अब प्रात कलेऊ माँगत रूठि चलैगी माई ?
स्याम-तामरस-नयन स्रवत जल काहि लेहुँ उर लाई* ?

शोक या करुणा की व्यजना इस प्रकार के वाक्यों में समझिए—

मृदु मूरति सुकुमार सुभाऊ। ताति बाउ तन लाग न काऊ॥
ते बन बसहिं बिपति सब भाँती। निदरे कोटिकुलिस सहिछाती॥
राम सुना दुख कानन काऊ। जीवन-तरु जिमि जोगवइ राऊ॥
ते अब फिरत बिपिन पदचारी। कंद-मूल-फल - फूल - अहारी॥

दशरथ के मरण पर यह शोक अपनी पूर्ण दशा पर पहुँच जाता है। उस समय की अयोध्या की दशा के वर्णन मे पाठको को करुणा की ऐसी धारा दिखाई पड़ती है, जिसमे पुरवासियो के साथ वे भी मग्न हो जाते हैं—

लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ कालराति अँधियारी॥
घोर-जंतु-सम पुर-नर-नारी। डरपहिं एकहि एक निहारी॥
घर मसान, परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहुँ जम दूता॥
बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं। सरित सरोवर देखि न जाहीं॥
बिधि कैकयी किरातिनि कीन्हीं। जेहि दव दुसह दसहु दिसि दीन्हीं॥
सहि न सके रघुबर-बिरहागी। चले लोग सब व्याकुल भागी॥
करि बिलाप सब रोवहिं रानी। महाबिपति किमि जाइ बखानी॥
सुनि बिलाप दुखहू दुख लागा। धीरजहू कर धीरज भागा॥

गोस्वामीजी द्वारा चित्रित राजकुल का यह शोक ऐसा शोक है जिसके

---

* यद्यपि वन-गमन के समय राम इतने बच्चे न थे, पर वात्सल्य दिखाने के लिये गोस्वामीजी ने कौशल्या के मुख से ऐसा ही कहलाया है।

भागी केवल पुरवासी ही नही, मनुष्य मात्र हो सकते है, क्योंकि यह ऐसे आलबन के प्रति है जिसके थोडे से दु ख को भी देख मनुष्य कहलानेवाले मात्र न सही तो मनुष्यता रखनेवाले सब करुणार्द्र हो सकते है।

दूसरा करुण दृश्य लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप है। इस विलाप के भीतर शोक की व्यजना अत्यत स्वाभाविक रीति से की गई है। उसके प्रवाह मे एक क्षण के लिये सारे नियम-व्रत, सारी दृढता बही जाती सी दिखाई देती है—

जौ जनतेउँ बन बधु-बिछोहू। पिता-बचन मनतेउँ नहि ओहू।।

भाव-दशा का तात्पर्य न समझनेवाले, नीति के नाम पर पाषड धारण करनेवाले, इसे चरित्र-ग्लानि समझेंगे या कहेगे। पर ऐसे प्रिय बधु का शोक जिसने एक क्षण के लिये भी विपत्ति मे साथ न छोडा, यदि एक क्षण के लिये सब बातो का विचार छुडा देनेवाला न होता तो राम के हृदय की वह कोमलता कहाँ दिखाई पडती जो भक्तो की आशा का अवलबन है? यह कोमलता, यह सहृदयता सब प्रकार के नियमो से परे है। नियमो से निराश होकर, 'कर्मवाद' की कठोरता से घबराकर, परोक्ष 'ज्ञान' और परोक्ष 'शक्ति' मात्र से पूरा पड़ता न देखकर ही तो मनुष्य परोक्ष 'हृदय' को खोज मे लगा और अत मे भक्तिमार्ग मे जाकर उस परोक्ष हृदय को उसने पाया। भक्त लोगों का ईश्वर अविचल नियमो की समष्टि मात्र नही है। वह क्षमा, दया, उदारता इत्यादि का अनत समुद्र है। लोक मे जो कुछ क्षमा, दया, उदारता आदि दिखाई देती है, वह उसी समुद्र का एक बिंदु है।

"आत्मग्लानि" का जैसा पवित्र और सच्चा स्वरूप गोस्वामीजी ने दिखाया है, वैसा शायद ही किसी कवि ने कही दिखाया हो। आत्मग्लानि का उदय शुद्ध और सात्विक अत करण मे ही हो सकता है, अतः भरत से बढकर उपयुक्त आश्रय उसके लिये और कहाँ मिल सकता है? आत्मग्लानि नामक मानसिक शैथिल्य या तो अपनी बुराई का अनुभव आप करने से होता है अथवा किसी बुरे प्रसग के साथ अपना सम्बन्ध लोक मे दिखाई पड़ने से उत्पन्न हीनता का अनुभव करने से। भरतजी को ग्लानि थी दूसरे प्रकार की, पर बडी सच्ची और

बडी गहरी थी। जिन राम का उन पर इतना गाढा स्नेह था, जिन्हे वे लोकोत्तर श्रद्धा और भक्ति की दृष्टि से देखते आये, उनके विरोधी वे समझे जायँ, यह दु:ख उनके लिये असह्य था। इस दु:ख के भार से हलके होने के लिये वे छटपटाने लगे, इस घोर आत्मग्लानि को वे हृदय मे न रख सके—

को त्रिभुवन मोहि सरिस अभागी। गति असि तोरि मातु जेहि लागी॥
पितु सुरपुर, बन रघुबर-केतू। मै केवल सब अनरथ-हेतू॥
धिग मोहि भयेउँ बेनु-बन आगी। दुसह-दाह-दुख-दूषन-भागी॥

वे रह-रहकर सोचते हैं कि मैं लाख अपनी सफाई दूँ, पर लोक की दृष्टि में निष्कलंक नही दिखाई पड सकता—

जो पै हौं मातु मते महँ ह्वैहौं।
तौ जननी जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वैहौ?
क्यो हौं आज होत सुचि सपथनि? कौन मानिहै साँची?
महिमा-मृगी कौन सुकृती की खल-बच-बिसिषन बाँची?
गहि न जाति रसना काहू की, कहौ जाहि जो सूझै?
दीनबंधु कारुण्यसिंधु बिन कौन हिये की बूझै?

कैकेयी को सामनें पाकर इस ग्लानि के साथ अमर्ष का संयोग हो जाता है। उसकी पवित्रता के सामने माता के प्रति यह अवज्ञा कैसी मनोहर दिखाई पड़ती है—

(क) जो पै कुरुचि रही अति तोहीं। जनमत काहे न मारेसि मोहीं॥
पेड़ काटि तैं पालउ सींचा। मीन जियन-हित बारि उलीचा॥
जब तै कुमति! कुमत जिय ठयऊ। खंड खंड होइ हृदय न गयऊ॥
बर माँगत मन भई न पीरा। गरि न जीह, मुँह परेउ न कीरा॥
अस को जीव-जन्तु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रान-प्रिय नाहीं?
भे अति अहित राम तेउ तोहीं। को तू अहसि? सत्य कहु मोहीं॥

(ख) ऐसे तैं क्यों कटु बचन कह्यो, री?
"राम जाहु कानन" कठोर तेरे कैसे धौं हृदय रह्यो री?
दिनकर-बंस, पिता दसरथ से राम लषन से भाई।

जननी ! तू जननी तो कहा कहौं ? बिधि केहि खोरि न लाई ।
"हौं लहिहौं सुख राजमातु ह्वै, सुत सिर छत्र धरैगो ।"
कुल-कलंक-मल-मूल मनोरथ तव बिनु कौन करैगो ?
ऐहैं राम सुखी सब ह्वै हैं, ईस अजस मेरो हरिहै ?
तुलसीदास मोको बड़ो सोच, तू जनम कौन विधि भरिहै ?

एक बार तो ससार की ओर देखकर भरतजी अयश छूटने से निराश होते हैं, पर फिर उन्हे आशा बँधती है और वे कैकेयी से कहते है कि ईश मेरा तो अयश हरेंगे, मैं तो मुँह दिखाने लायक हो जाऊँगा, पर तू अपने दिन कैसे काटेगी ? वे समझते है कि राम के आते ही मेरा अयश दूर हो जायगा । उनको विश्वास है कि सारा ससार मुझे दोषी माने, पर सुशीलता की मूर्ति राम मुझे दोषी नही मान सकते ।

परिहरि राम सीय जग माहीं । कोउ न कहहि मोर मत नाहीं ॥

राम की सुशीलता पर भरत को इतना अविचल विश्वास है । वह सुशीलता धन्य है जिस पर इतना विश्वास टिक सके, और वह विश्वास धन्य है जो सुशीलता पर इस अविचल भाव से जमा रहे । भरत की आशा का एक मात्र आधार यही विश्वास है । कौशल्या के सामने जिन वाक्यो द्वारा वे अपनी सफाई देते हैं, उनके एक-एक शब्द से अत करण की स्वच्छता झलकती है । उनकी **शपथ** उनकी अतर्वेदना की व्यजना है—

जे अघ मातु, पिता, सुत मारे । गाय-गोठ महिसुर-पुर जारे ॥
जे अघ तिय-बालक-बध कीन्हे । मीत महीपति माहुर दीन्हें ॥
जे पातक उपपातक अहहीं । करम-बचन-मन-भव कवि कहहीं ॥
ते पातक मोहिं होहु बिधाता । जौं एहु होइ मोर मत, माता ॥

इस सफाई के सामने हजारो वकीलो की सफाई कुछ नही है, इन कसमो के सामने लाखो कसमे कुछ नही है । यहाँ वह हृदय खोलकर रख दिया गया है जिसकी पवित्रता को देख जो चाहे अपना हृदय निर्मल कर ले ।

हास्यरस का एक अच्छा छीटा नारद-मोह के प्रसग मे मिलता है । नारद-

जी बन्दर का मुँह लेकर स्वयवर की सभा मे एक राज्यकन्या को मोहित करने बैठे हैं—

काहु न लखा सो चरित बिसेखा। सो सरूप नृप-कन्या देखा।
मर्कट बदन भयंकर देही। देखत हृदय क्रोध भा तेही॥
जेहि दिसि बैठे नारद फूली। सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली॥
पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं। दखि दसा हरगन मुसुकाहीं॥

गोस्वामीजी का यह हास भी मर्य्यादा के साथ है, 'स्मित' हास है, बडे लोगो का हास है, उस पर भी उद्देश्य-गर्भित है, निरा हास ही हास नही है। यह मोह और अहकार छुडाने का एक साधन है। इसके आलबन का स्वरूप भी विदूषको का-सा कृत्रिम नही है।

हास के अतिरिक्त बालविनोद की सामग्री देखनी हो, तो सुन्दर काड मे एक लबी पूँछ के बदर को पूँछ मे लुक बाँधकर नचाते हुए और राक्षसो के लडको को ताली बजा-बजाकर कूदते हुए देखिए। थोडी देर वही ठहरने पर ऐसा भयानक और बीभत्स काड देखने को मिलेगा, जो भुलाए न भूलेगा। कवितावली मे लकादहन का बडा ही विस्तृत और पूर्ण चित्रण है। देखिए, कैसा आवेगपूर्ण भय है—

(क) "लागि, लागि आगि" भागि भागि चले जहाँ तहाँ,
धीय को न माय, बाप पूत न सँभारहीं।
छूटे बार, बसन उघारे, धूम धुंध अंध,
कहैं बारे बूढ़े "बारि बारि" बार बारहीं॥
हय हिहिनात भागे जात, घहरात गज,
भारी भीर ठेलि पेलि पेलि रौंदि खौंदि डारहीं।
नाम लै चिलात, बिललात अकुलात अति,
तात, तात! तौंसियत, झौंसियत झारहीं॥

(ख) लपट कराल ज्वालजाल-माल दहूँ दिसि,
धूम अकुलाने पहिचानै कौन काहि रे।

पानी को ललात, बिललात जरे गात जात,
परे पाइमाल जात, भ्रात ! तू निबाहि रे ॥
प्रिया ! तू पराहि, नाथ नाथ ! तू पराहि बाप,
बाप ! तू पराहि, पूत, पूत ! तू पराहि रे ।
तुलसी बिलोकि लोग व्याकुल बिहाल कहै,
"लेहि दससीस अब बीस चख चाहि रे ॥"

इसी लकादहन के भीतर यह बीभत्स काड समाने आता है—

हाट बाट हाटक पिघलि चलो घी सो घनो,
कनक-कराही लंक तलफति तोय सो ।
नाना पकवान जातुधान बलवान सब,
पागि पागि ढेरी कीन्ही भली भाँति भाय सों ॥

पिशाचिनियो और डाकिनियो की बीभत्स क्रीडा का जो कवि-प्रथानुसार वर्णन है, वह तो है ही, जैसे—

ओझरी की झोरी कांधे, आँतनि की सेल्ही बाँधे,
मूड के कमंडलु, खपर किए कोरि कै ।
जोगिनि झुटुंग झुंड झुंड बनी तापसी सी,
तीर तीर बैठी सो समर-सरि खोरि कै ॥
सोनित सो सानि सानि गूदा खात सतुआ से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै ।
तुलसी बैताल भूत साथ लिये भूतनाथ,
हेरि हेरि हँसत हैं हाथ हाथ जोरि कै ॥

कवायद की पूरी पाबदी के साथ बहुत थोडे मे रौद्ररस का उदाहरण देखना हो, तो यह देखिए—

माखे लखनु कुटिल भइँ भौहैं । रद-पट फरकत नयन रिसौहैं ॥
रघुबसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई । तेहि समाज अस कहै न कोई ॥

इसमे अनुभाव भी है, अमर्ष सचारी भी है । सभव है, कुछ लोगो को "रिसौहैं" शब्द के कारण 'स्वशब्दवाच्यत्व' दोष दिखाई पडे, पर अनुभाव

आदि द्वारा पूर्ण व्यजना हो जाने पर विशेषण रूप मे 'भाव' का नाम आ जाना दोष, नही कहा जा सकता ।

युद्धवीर के उदाहरणो से तो सारा लकाकाड भरा पडा है । 'उत्साह' नामक भाव की भी व्यजना अत्यत उत्कर्ष को पहुँची हुई है और युद्ध के दृश्य का चित्रण भी बडा ही उग्र और प्रचड है । वीररस का वर्णन-कौशल उन्होंने तीन शैलियो के भीतर दिखाया है—प्राचीन राजपूत काल के चारणो की छप्पयवाली ओजस्विनी शैली के भीतर, इधर के फुटकरिए कवियो की दडक-वाली शैली के भीतर, और अपनी निज की गीतिकावाली शैली के भीतर । नीचे तीनो का क्रमश. एक-एक उदाहरण दिया जाता है—

(१) कतहुँ बिटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत ।
कतहुँ बाजि सो बाजि, मर्दि गजराज करक्खत ।।
चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत ।
बिकट कटक बिद्दरत बीर बारिद जिमि गज्जत ।।
लंगूर लपेटत पटकि भट "जयति राम, जय उच्चरत ।
तुलसी पवननंदन अटल जुद्ध, क्रुद्ध कौतुक करत ।।

(२) दबकि दबोरे एक, बारिध में बोरे एक,
मगन मही मे एक गगन उड़ात है ।
पकरि पछारे, कर-चरन उखारे एक,
चीरि फारि डारे, एक मीजि मारे लात है ।।
तुलसी लखत राम रावन, बिबुध बिधि,
चक्रपानि चंडीपति चंडिका सिहात हैं ।
बड़े बड़े बानइत बीर बलवान बड़े,
जातुधान-जूथप निपाते बातजात हैं ।।

(३) भये क्रुद्ध जुद्ध-बिरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे ।।
कोदंड-धुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे ।।
मंदोदरी उर-कंप कंपति कमठ भू भूधर त्रसे ।
चिक्करहिं दिग्गज दसन गहि महि, देखि कौतुक सुर हँसे ।।

धनुष चढाने के लिये राम और लक्ष्मण का उत्साह और धनुभग की प्रचडता का वर्णन भी अत्यत वीरोल्लासपूर्ण है। जनक के वचन पर उत्तेजित होकर लक्ष्मण कहते हैं—

सुनहु भानु-कुल-कमल-भानु ! जो अब अनुसासन पावौं।
कावापुरो पिनाकु ? मेलि गुन मंदर-मेरु नवावौं ॥
देखौ निज किंकर को कौतुक, क्यों कोदंड चढावौं।
लै धावौं, भंजौं मृनाल ज्यौं तौ प्रभु अनुज कहावौं ॥

धनुष टूटने पर—

डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्बै समुद्र सर।
ब्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर ॥
दिग्गयंद लरखरत, परत दसकंठ मुक्ख भर।
सुर विमान हिमभानु भानु संघटित परस्पर ॥
चौंके बिरंचि संकर सहित, कोल कमठ अति कलमल्यो।
ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि जबहि राम सिव-धनु दल्यो ॥

धनुभग के इस वर्णन मे प्रश्न यह उठता है कि इसमे प्रदर्शित 'उत्साह' का आलबन क्या है। प्रचलित साहित्य-ग्रथो मे देखिए तो युद्धवीर का आलबन विजेतव्य ही मिलेगा। यह विजेतव्य शत्रु या प्रतिपक्षी ही हुआ करता है। अतः यहाँ विजेतव्य धनुष ही हो सकता है। पर पृथ्वी पर पडा हुआ जड धनुष मनुष्य के हृदय मे उठाने या तोडने का उत्साह जिस तरह जाग्रत करेगा, यह समझते नही बनता है। वह तो पडा पडा ललकार नही रहा है। यदि किसी मनुष्य मे इतना साहस और बल है कि वह बडी-बडी चट्टानो को उठा सकता है, तो पहाड पर जाकर उसकी क्या दशा होगी ? अत हमारी समझ मे उत्साह का आलबन कोई विकट या दुष्कर 'कर्म' ही होता है।

लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम की व्याकुलता देख कार्य-तत्परता की मूर्ति हनुमान् कहते हैं—

जौं हौं अब अनुसासन पावौं ।
तौ चंद्रमहिं निचोरि चैल ज्यौं आनि सुधा सिर नावौं ।।
कै पाताल दलौं ब्यालावलि अमृतकुंड महि लावौं ।।
भेदि भुवन कर भानु बाहिरो तुरत राहु दै तावौं ।।
बिबुध-बैद बरबस आनौं धरि तौ प्रभु अनुज कहावौं ।।
पटकौं मीच नीच मूषक ज्यौं सबहिं को पापु बहावौं ।।

हनुमान् के इस 'वीरोत्साह' का आलबन क्या है ? क्या चन्द्रमा, अश्विनी-कुमार इत्यादि ? खैर, इसका विस्तृत विवेचन अन्यत्र किया जायगा, यहाँ इतना ही निवेदन करके रसज्ञो से क्षमा चाहते है ।

अब अद्भुत रस का एक उदाहरण देकर यह प्रसग समाप्त किया जाता है । हनुमान्‌जी पहाड हाथ मे लिए आकाश-मार्ग से अपूर्व वेग के साथ उडे जा रहे है—

लीन्हों उखारि पहार बिसाल चल्यो तेहि काल विलंब न लायो ।
मारुत नंदन मारुत को, मन को, खगराज को वेग लजायो ।।
तीखी तुरा तुलसी कहतो पै हिये उपमा को समाउ न आयो ।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो ।।

इस पद्य के भीतर "मारुत को, मन को, खगराज को" इस वाक्याश मे कुछ 'दुष्क्रमत्व' प्रतीत होता है । मन को सब के पीछे होना चाहिए, मन का वेग जब कह चुके, तब खगराज का वेग उसके सामने कुछ नही है । पर समग्र वर्णन से जो चित्र सामने खडा होता है, उसके अद्भुत होने मे कोई सदेह नही । गगनमडल के बीच पहाड की लीक सी बँध जाना कोई साधारण व्यापार नही है । इस अद्भुतता की योजना भी एक स्वभावसिद्ध व्यापार के आधार पर हुई है और प्रकृति का निरीक्षण सूचित करती है । यह सूचित करती है कि अत्यत वेग से गमन करती हुई वस्तु की एक लकीर-सी बन जाया करती है, इस बात पर कवि की दृष्टि गई है । जिसकी दृष्टि ऐसी बातो पर न जाती हो, वह कवि कैसा ? प्रकृति के नाना रूपो को देखने के लिये कवि की आँखे खुली रहनी चाहिएँ, उसका मृदु सगीत सुनने के लिये उसके कान

खुले रहने चाहिएँ; और सबका प्रभाव ग्रहण करने के लिये उसका हृदय खुला रहना चाहिए । अद्भुत रस के इस आलबन द्वारा गोस्वामीजी की वह स्वाभाविक विश्व-व्यापार-ग्राहिणी सहृदयता लक्षित होती है, जो हिंदी के और किसी कवि मे नही। इस स्वभाव-सिद्ध अद्भुत व्यापार के सामने "कमल पर कदली, कदली पर कुड, शख पर चद्रमा" आदि कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध रूपकातिशयोक्ति के कागजी दृश्य क्या चीज है ? लडको के खेल है । बालको या बाल-रुचिवालो का मनोरजन इनसे होता हो, तो हो सकता है ।

गोस्वामीजी ने अपनी इस परिष्कृत और गभीर रुचि का परिचय अलकारो की योजना मे बराबर दिया है । लकादहन के प्रसग मे जहाँ हनुमान्जी अपनी जलती हुई लबी पूँछ इधर से उधर घुमाते हैं, वहाँ भी अपनी 'उत्प्रेक्षा' और 'सदेह' को वे इसी स्वभावसिद्ध व्यापार पर टिकाते है—

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मानौ,
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
केधों ब्योम-बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीर-रस बीर तरवारि सी उघारी है ॥

ध्यान से देखिए तो कई एक व्यापार, जो देखने मे केवल अलौकिकत्व-विधायक प्रतीत होते हैं, हेतूत्प्रेक्षा के व्यग्य से अपना प्रकृत स्वरूप खोल देंगे। पथिक-वेश मे राम-लक्ष्मण वन के मार्ग में चले जा रहे है (क्षमा कीजिएगा, यह दृश्य हमें बहुत मनोहर लगता है, इसी से बार-बार सामने आया करता है) । गोस्वामीजी कहते हैं—

जहँ जहँ जाहिं देव रघुराया । तहँ तहँ मेघ करहिं नभ छाया ।

जिस समय मेघखड आकाश मे बिखरे रहते है, उस समय पथिक के मार्ग मे कभी धूप पड़ती है कभी छाया । इस छाया पडने को देखकर किसी अवसर पर यदि कवि किसी साधारण पुरुष को भी कह दे कि "मेघ भी आपके ऊपर छाया करते चलते हैं" तो उसका यह कहना अस्वाभाविक न लगेगा । इस कथन द्वारा जिस प्रताप आदि की व्यजना इष्ट होगी, वह उत्प्रेक्षा का हेतु हो

जायगा। प्राचीन कवियो मे इस प्रकार की सुन्दर स्वाभाविक उक्तियाँ अकसर मिलती है जिनमे से किसी-किसी को लेकर और उन पर एक साथ कई प्रौढोक्तियाँ लादकर पिछले खेवे के कवियो ने एक भद्दी इमारत खडी की है। फल इसका यह हुआ है कि उनमे अतिशयोक्ति ही अतिशयोक्ति रह गई है, जो कुछ स्वाभाविकता थी, वह जान (अपनी कहिए या उन पुरानी उक्तियो की कहिए) लेकर भागी है। उदाहरण के लिये अभिज्ञान-शाकुतल मे भौरा शकुतला का पीछा किए हुए है और बार बार उसके मुँह की ओर जाता है—

"सलिल सेसंभमुग्गदो, णोमलिग्रं उज्भिग्र वग्रणं में महुग्ररो ग्रहिवट्टइ"

हमारे लाला भिखारीदासजी ने इस उक्ति को पकड़ा और उसके ऊपर यह भारी भरकम ढाँचा खड़ा कर दिया—

ग्रानन है ग्ररबिंद न फूले, ग्रलीगन ! भूले कहा मडरात हौ ?
कीर कहा तोंहि बाई भई भ्रम बिंब के ग्रोठन को ललचात हौ ?
दासजू ब्याली न, बेनी रची, तुम पापी कलापी कहा इतरात हौ ?
बोलति बोल न बाजत बीन, कहा सिगरे मृग घेरत जात हौ ?

ऐसे संकट में पड़ी हुई नायिका शायद ही कही दिखाई पडे। भ्रमर-बाधा तक तो कोई चिता की बात नही। पर उसके ऊपर यह शुक-बाधा, मयूर-बाधा और मृग-बाधा देख तो हाथ पर हाथ रखकर बैठे ही रहना पडेगा।

बहुत लोगो ने देखा होगा कि भौंरे आदमी के पीछे अकसर लग जाते है, कान और मुँह के पास मँडराया करते है और हटाने से जल्दी हटते नही। इसी बात पर स्त्रियो मे यह प्रवाद प्रचलित है कि जब कोई परदेश मे होता है, तब उसका सँदेसा कहने के लिये भौरे आकर कान के पास मँडराया करते हैं अतः इस प्रकार की पुरानी उक्तियो मे जो सौदर्य है वह हमे अतिशयोक्ति मे न दिखाई देकर स्वभाव-सिद्ध वस्तु द्वारा व्यग्य हेतूत्प्रेक्षा मे दिखाई पडता है। जैसे भौरा जो बार-बार मुँह के पास जाता है, वह मानो मुख को कमल समझने के कारण।

छोटे छोटे सचारी भावो की स्वतत्र व्यजना भी गोस्वामीजी ने जिस

मार्मिकता से की है, उससे मानवी प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण प्रकट होता है। उन्होंने ऐसे-ऐसे भावो का चित्रण किया है जिनकी ओर किसी कवि का ध्यान तक नही गया है। सचारियो के भीतर वे गिनाये तो गए नही है फिर ध्यान जाता कैसे ? सीता के सबध मे राम लोक-ध्वनि चरो के द्वारा सुनते है—

चरचा चरनि सो चरची जानमनि रघुराइ ।
दूत-मुख सुनि लोक-धुनि घर घरनि बूझी आइ ।।

मर्य्यादास्तभ राम लोक-मत पर सीता को वन मे भेज देते हैं। लक्ष्मण उन्हे बाल्मीकि के आश्रम मे छोड़ आँखो मे आँसू भरे लौट रहे है। उस अवसर पर—

दीनबंधु दयालु देवर देखि अति अकुलानि।
कहति बचन उदास तुलसीदास त्रिभुवन रानि ।।

ऐसे अवसर पर सीता ऐसी गभीर-हृदया देवी का यह 'उदासीन भाव' प्रकट करना कितना स्वाभाविक है—

तौ लौ बलि आपुहि कीबी विनय समुझि सुधारि ।
जौ लौ हौं सिखि लेउँ बन ऋषि-रीति बसि दिन चारि ।।
तापसी कहि कहा पटवति नृपनि को मनुहारि ।
बहुरि तिहि विधि आइ कहिहै साधु कोउ हितकारि ।।
लषन लाल कृपाल ! निपटहि डारिबो न बिसारि ।
पालबी सब तापसिनि ज्यों राजधर्म बिचारि ।।
सुनत सीता-बचन मोचत सकल लोचन-बारि ।
बालमीकि न सके तुलसी सो सनेह सँभारि ।।

काव्य के भाव-विधान मे 'जिस उदासीनता' का सन्निवेश होगा, वह खेद-व्यजक ही होगी—यथार्थ मे 'उदासीनता' न होगी। उसे विषाद् क्षोभ आदि से उत्पन्न क्षणिक मानसिक शैथिल्य समझिए। कैकेयी को समझाते समय मथरा के मुख से भी इस उदासीनता की व्यजना गोस्वामीजी ने बड़ी मार्मिकता से कराई है। राम के अभिषेक परे दु.ख प्रकट करने के कारण जब मथरा को कैकेयी बुरा-भला कहती है, तब वह कहती है—

दूसरो का उपहास करते तो आपने बहुत लोगो को देखा होगा, पर कभी आपने मनुष्य की उस अवस्था पर भी ध्यान दिया है जब वह पाश्चात्ताप और ग्लानिवश अपना उपहास आप करता है ? गोस्वामीजी ने उस पर भी ध्यान दिया है। उनकी अर्न्तदृष्टि के सामने वह अवस्था भी प्रत्यक्ष हुई है। सोने के हिरन के पीछे अपनी सोने की सीता को खोकर राम वन-वन विलाप करते फिरते हैं, मृग उन्हे देखकर भागते हैं, और फिर जैसा कि उनका स्वभाव होता है, थोडी दूर पर जाकर खडे हो जाते हैं। इस पर राम कहते है—

हमहिं देखि मृग-निकर पराही। मृगी कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं ॥
तुम आनन्द करहु मृगजाए। कंचन मृग खोजन ये आये॥

कैसी क्षोभ-पूर्ण आत्मनिंदा है !

यहाँ एक और बात ध्यान देने की है। कवि ने मृगो के ही भय का क्यों नाम लिया ? मृगियो को भय क्यो नही था ? बात यह है कि आखेट की यह मर्यादा चली आती है कि मर्यादा के ऊपर अस्त्र न चलाया जाय। शिकार खेलने वालो में यह बात प्रसिद्ध है। यहाँ गोस्वामीजी का लोक-व्यवहार-परिचय प्रकट होता है।

देखिए 'श्रम' की व्यजना किस कोमलता के साथ गोस्वामीजी करते हैं। सीता राम-लक्ष्मण के साथ पैदल वन की ओर चली हैं—

(क) **पुर ते निकसी रघुबीर-बधू, धरि धीर दये मग में डग द्वै ॥**
झलकी भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै ॥
फिरि बूझति है "चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै ?"
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलं जल च्वै ॥

(ख) **"जल को गए लक्खन हैं लरिका, परिखौ, पिय ! छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।**
पोछि पसेउ बयारि करौं, अरु पायँ पखारिहौं भूभुरि डाढ़े ॥
तुलसी रघुबीर प्रिया-स्रम जानिकै, बैठि बिलंब लौं कटक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लख्यो, पुलको तनु, बारि बिलोचन बाढ़े ॥

कुलवधू के 'श्रम' की यह व्यजना कैसी मनोहर है ! यह 'श्रम' स्वतन्त्र है, किसी और भाव का सचारी हो कर नही आया है।

गोस्वामीजी को मनुष्य की अन्तः प्रकृति की जितनी परख थी उतनी हिन्दी के और किसी कवि को नही। कैसे अवसर पर मनुष्य के हृदय में स्वभावतः कैसे भाव उठते हैं, इसकी वे बहुत सटीक कल्पना करते थे। राम के अयोध्या लौटने पर जब सुग्रीव और विभीषण ने राम और भरत का मिलना देखा तब उनके चित्त मे क्या आया होगा, यह देखिए—

सधन चोर मग मुदित मन धनी गही ज्यों फेंट।
त्यो सुग्रीव विभीषनहि भई भरत की भेंट॥

रास्ते भर तो वे बहुत ही प्रसन्न आए होंगे और राम के साथ रहने के कारण अपने को गौरवशाली—शायद साधु और सज्जन भी—समझते रहे होंगे। पर यह महत्व उनका निज का अर्जित नही था, केवल राम की कृपा से मिला हुआ था। वे जो उसे अपना अर्जित समझते आ रहे थे, यह उनका भ्रम था। उनका यह भ्रम राम और भरत का मिलना देखकर दूर हो गया। वे ग्लानि से गड गये। उनके मन मे आया कि एक भाई भरत हैं और एक हम लोग है जिन्होने अपने भाइयो के साथ ऐसा व्यवहार किया।

बस, दो बाते और कहनी हैं। कवि लोग अर्थ और वर्ण-विन्यास के विचार से जिस प्रकार शब्द-शोधन करते हैं, उसी प्रकार अधिक मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करने के लिये व्यापार-शोधन भी करते हैं। बहुत से व्यापारों में जो व्यापार अधिक प्राकृतिक होने के कारण स्वभावतः हृदय को अधिक स्पर्श करने वाला होता है, भावुक कवि की दृष्टि उसी पर जाती है। यह चुनाव दो प्रकार से होता है। कही तो (१) चुना हुआ व्यापार उपस्थित प्रसंग के भीतर ही होता है या हो सकता है, अर्थात् उस व्यापार और प्रसग का व्यापक सम्बन्ध होता है और वह व्यापार उपलक्षण मात्र होता है; और कही (२) चुना हुआ व्यापार प्रस्तुत व्यापार से सादृश्य रखता है, जैसे, अन्योक्ति मे। गोस्वामीजी ने दोनो प्रकार के चुनाव में अपनी स्वाभाविक सहृदयता दिखाई है।

(१) प्रथम पद्धति का अवलम्बन ऐसी स्थिति को अकित करने मे होता है जिसके अन्तर्गत बहुत से व्यापार हो सकते हैं और सब व्यापारों का वाच्य एक

सामान्य शब्द हुआ करता है, जैसे अत्याचार, दैन्य, दुःख, सुख इत्यादि। अत्याचार शब्द के अन्तर्गत डाँटने-डपटने से लेकर मारना पीटना, जलाना, स्त्री-बालकों की हत्या करना, न जाने कितने व्यापार समझे जाते हैं। इसी प्रकार दीन दशा के भीतर खाने-पहनने की कमी से लेकर द्वार-द्वार फिरना, दाँत निकालकर माँगना, किसी के दरवाजे पर अड़कर बैठना और हटाने से भी न हटना ये सब गोचर दृश्य आते है। इन दृश्यो मे जो सबसे अधिक मर्मस्पर्शी होता है, भावुक कवि उसी को सामने रखकर, उसी को सबका उपलक्षण बनाकर, स्थिति को हृदयगम करा देता है। गोस्वामी जी ने अपने दैन्य भाव का चित्रण स्थान-स्थान पर इसी पद्धति से किया है। कुछ उदाहरण लीजिये—

कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो ?
हा हा करि दीनता कही, द्वार द्वार बार बार, परी न छार मुँह बायो।
महिमा मान प्रिय प्रान तें तजि, खोलि खलन आगे खिनु खिनु पेट खलायो॥

इसका अर्थ यह नही है कि तुलसोदास जी सचमुच द्वार-द्वार पेट खलाते और डांट-फटकार सुनते फिरा करते थे।

कही राजा राम के द्वार पर खडे अपनी दीनता का चित्र आप देखते हैं—

राम सों बड़ो है कौन, मोसों कौन छोटो ?
राम सों खरो है कौन, मोसों कौन खोटो ?

सारी विनयपत्रिका का विषय यही है—राम की बडाई और तुलसी की छोटाई। दैन्यभाव जिस उत्कर्ष को गोस्वामीजी मे पहुँचा है, उस उत्कर्ष को और किसी भक्त कवि में नही। इस भाव-रहस्य से अनभिज्ञ और इस उपलक्षण-पद्धति को न समझनेवाले ऊपर के पदो को देख यदि कहे कि तुलसीदास जी बड़े भारी मगन थे, हटाने से जल्दी हटते नही थे और खुशामदी भी बड़े भारी थे, तो उनका प्रतिवाद करना समय नष्ट करना ही है। खेद इस बात पर अवश्य होता है कि 'स्वतन्त्र आलोचना' का ऐसा स्थूल और भद्दा अर्थ समझनेवाले भी हमारे बीच वर्त्तमान हैं। एक स्थान पर गोस्वामीजी कहते है—

खीझिबे लायक करतब कोटि कोटि कटु,
रीझिबे लायक तुलसी की निलजई।

इस पर यदि कोई कह दे कि तुलसीदासजी बडे भारी बेहया थे, तो उनकी क्या दवा है ?

तुलसीदास को जब स्वामी के प्रति अपने प्रेम की अनन्यता की इस प्रकार प्रतीति हो जाती है कि "जानत जहान मन मेरे हू गुमान बडो, मान्यो मैं न दूसरो, न मानत, न मानिहौ" तब प्रेमाधिक्य से वे कुछ मुँहलगे हो जाते हैं और कभी-कभी ऐसी बाते भी कह देते हैं—

हौं अब लौं करतूति तिहारिय चितवत हुतो न रावरे चेते।
अब तुलसी पूतरो बाँधिहै सहि न जात मोपै परिहास एते ॥

पर ऐसी गुस्ताखी कभी नही करते कि "आपने करम भवनिधि पार करौं जौ तो हम करतार, करतार तुम काहे के ?"

देखिए, ससार की अशाति का चित्र कैसा मर्मस्पर्शी और प्राकृतिक जीवन-व्यापार उपलक्षण के रूप मे चुनकर वे अकित करते हैं—

डासत ही गई बीति निसा सब कबहुँ न, नाथ ! नींद भरि सोयो।

(२) प्रस्तुत व्यापार के स्थान पर उसी के सदृश अप्रस्तुत व्यापार चुनने में भी गोस्वामीजी ने प्रभावोत्पादक प्राकृतिक दृश्यो की परख का पूर्ण परिचय दिया है। प्रेमभाव का उत्कर्ष दिखाने के लिए उन्होने चातक और मीन को पकडा है। दोहावली के भीतर चातक की अन्योक्तियाँ प्रेमी भक्तो के हृदय का सर्वस्व हैं। यही चातकता और मीनता वे जीवन भर चाहते रहे—"करुणा-निधान ! बरदान तुलसी चहत सीतापति-भक्ति-सुरसरि-नीर-मीनता।" अयोक्ति आदि के लिये भी वे तत्काल हृदय से चुभनेवाला दृश्य लाकर खडा कर देते हैं। इससे प्रस्तुत विषय के सबध मे जो भाव उत्पन्न करना इष्ट होता, वह भाव थोडी देर के लिये अवश्य उत्पन्न होता है। प्रासादो मे सुख से रहने वाली सीता वन मे कैसे रह सकेगी—

नव-रसाल-बन-बिहरन-सीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला ॥

शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण

रस-सचार से आगे बढने पर हम काव्य की उस उच्च भूमि मे पहुँचते हैं जहाँ मनोविकार अपने क्षणिक रूप मे ही न दिखाई देकर जीवन-व्यापी रूप मे

दिखाई पडते हैं। इसी स्थायित्व की प्रतिष्ठा द्वारा शील-निरूपण और पात्रो का चरित्र-चित्रण होता है। कहने की आवश्यकता नही कि इस उच्च भूमि मे आने पर फुटकरिए कवि पीछे छूट जाते है, केवल प्रबन्ध-कुशल कवि ही दिखाई पडते है। खेद के साथ कहना पडता है कि गोस्वामीजी को छोड हिन्दी का और कोई पुराना कवि इस क्षेत्र मे नही दिखाई पडता। चारण-काल के चद आदि कवियो ने भी प्रबध-रचना की है, पर उसमे चरित्र-चित्रण को वैसा स्थान नहीं दिया गया है, वीरोल्लास ही प्रधान है। जायसी आदि मुसलमान कवियो की प्रबन्ध-धारा केवल प्रेम-पथ का निदर्शन करती गई है। दोनो प्रकार के आख्यानो मे मनोविकारो के इतने भिन्न-भिन्न प्रकृतिस्थ स्वरूप नही दिखाई पडते जिन्हे हम किसी व्यक्ति या समुदाय-विशेष का लक्षण कह सके।

रस-सचार मात्र के लिये किसी मनोविकार की एक अवसर पर पूर्ण व्यजना ही काफी होती है। पर किसी पात्र मे उसे शील-रूप मे प्रतिष्ठित करने के लिए कई अवसरो पर उसकी अभिव्यक्ति दिखायी पड़ती है। रामचरितमानस के भीतर राम, भरत, लक्ष्मण, दशरथ और रावण, ये कई पात्र ऐसे हैं जिनके स्वभाव और मानसिक प्रवृत्ति की विशेषता गोस्वामीजी ने, कई अवसरो पर प्रदर्शित भावो और आचरणो की एकरूपता दिखाकर, प्रत्यक्ष की है।

पहले राम को लीजिए और इस बात का ध्यान रखिए कि प्रधान पात्र होने के कारण जितनी भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे उनका जीवन दिखाया गया है, और किसी पात्र का नही। भिन्न-भिन्न मनोविकारों को उभारने वाले जितने अधिक अवसर उनके सामने आए हैं उतने और किसी पात्र के सामने नही। लक्ष्मण भी प्रत्येक परिस्थिति मे उनके साथ रहे, इससे उनके सम्बन्ध मे भी यही कहा जा सकता है। साराश यह कि राम-लक्ष्मण के चरित्रो का चित्रण आख्यान के भीतर सबसे अधिक व्यापक होने के कारण सबसे अधिक पूर्ण है। भरत का चरित्र जितना अकित है, उतना सबसे उज्ज्वल, सबसे निर्मल और सबसे निर्दोष है। पर साथ ही यह भी है कि वह उतना अधिक अकित नही है। राम से भी अधिक जो उत्कर्ष उनमें दिखाई पड़ता है, वह बहुत कुछ चित्रण की अपूर्णता के कारण—उतनी अधिक परिस्थितियो में उसके न दिखाए जाने के

कारण जितनी अधिक परिस्थितियो मे राम-लक्ष्मण का चरित्र दिखाया गया है। पर इसमे भी कोई सदेह नही कि जिस परिस्थिति मे भरत दिखाए गए हैं, उससे बढकर शील की कसौटी हो ही नही सकती।

अनन्त शक्ति के साथ धीरता, गभीरता और कोमलता 'राम' का प्रधान लक्षण है। यही उनका 'रामत्व' है। अपनी शक्ति की स्वानुभूति ही उस उत्साह का मूल है जिससे बडे-बडे दुःसाध्य कर्म होते हैं। बाल्यावस्था मे ही जिस प्रसन्नता के साथ दोनो भाइयो ने घर छोडा और विश्वामित्र के साथ बाहर रह कर अस्त्र-शिक्षा प्राप्त की तथा विघ्नकारी विकट राक्षसो पर पहले-पहल अपना बल आजमाया, वह उस उल्लासपूर्ण साहस का सूचक है जिसे 'उत्साह' कहते हैं। छोटी अवस्था मे ही ऐसे विकट प्रवास के लिए जिनकी धडक खुलती हमने देखी, उन्ही को पीछे चौदह वर्ष वन मे रहकर अनेक कष्टो का सामना करते हुए जगत् को क्षुब्ध करने वाले कुम्भकर्ण और रावण ऐसे राक्षसो को मारते हुए हम देखते हैं। इस प्रकार जिन परिस्थितियो के बीच वीर-जवान का विकास होता है, उनकी परम्परा का निर्वाह हम क्रम से रामचरित मे देखते हैं। राम और लक्ष्मण ये दो अद्वितीय वीर हम उस समय पृथ्वी पर पाते हैं। वीरता की दृष्टि से हम कोई भेद दोनो पात्रो मे नही कर सकते। पर सीता के स्वयबर मे दोनों भाइयो के स्वभाव मे जो पार्थक्य दिखाई पडा उसका निर्वाह हम अन्त तक पाते हैं। जनक के परिताप-वचन पर उग्रता और परशुराम की बातो के उत्तर मे जो चपलता हम लक्ष्मण में देखते हैं, उसे हम बराबर अवसर-अवसर पर देखते चले जाते हैं। इसी प्रकार राम की जो धीरता और गम्भीरता हम परशुराम के साथ बातचीत करने में देखते है, वह बराबर आगे आने वाले प्रसगो मे हम देखते जाते हैं। इतना देखकर तब हम कहते है कि राम का स्वरूप धीर और गम्भीर था और लक्ष्मण का उग्र और चपल।

धीर, गम्भीर और सुशील अन्तःकरण की बडी भारी विशेषता यह होती है कि वह दूसरे मे बुरे भाव का आरोप जल्दी नही कर सकता। सारे अवधवासियो को लेकर भरत को चित्रकूट की ओर आते देख लक्ष्मण कहते हैं—

कुटिल कुबंधु कु-अवसर ताकी। जानि राम बनबास एकाकी ॥
करि कुमंत्र मन, साजि समाजू। आए करइ अकंटक, राजू ॥

और तुरन्त इस अनुमान पर उनकी त्योरी चढ जाती है—

जिमि करि-निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू ॥
तैसेहि भरतहि सेन समेता। सानुज निदरि निपालउँ खेता ॥

पर राम के मन मे भरत के प्रति ऐसा सन्देह होता ही नही है। अपनी सुशीलता के बल से उन्हे उनकी सुशीलता पर पूरा विश्वास है। वे तुरन्त समझाते है—

सुनहु लषन भल भरत सरीसा। बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा ॥
भरतहि होइ न राज-मद विधि-हरि-हर-पद-पाइ।
कबहुँ कि काँजी-सीकरनि छीर-सिंधु बिनसाइ ॥

सुमत जब राम-लक्ष्मण को बिदा कर अयोध्या लौटने लगते हैं, तब रामचन्द्रजी अत्यन्त प्रेम-भरा सँदेशा पिता से कहने को कहते हैं जिसमे कही से खिन्नता या उदासीनता का लेश नही है। वे सारथी को बहुत तरह से समझाकर कहते हैं—

सब विधि सोइ करतव्य तुम्हारे। दुःख न पाव पितु सोच हमारे ॥

यह कहना लक्ष्मण को अच्छा नही लगता। जिस निष्ठुर पिता ने स्त्री के कहने मे आकर वनवास दिया, उसे भला सोच क्या होगा? पिता के व्यवहार की कठोरता के सामने लक्ष्मण का ध्यान उनके सत्य-पालन और परवशता की ओर न गया, उनकी वृत्ति इतनी धीर और सयत न थी कि वे इतनी दूर तक सोचने जाते। पिता के प्रति कुछ कठोर वचन वे कहने लगे। पर राम ने उन्हे रोका और सारथी से बहुत विनती की कि लक्ष्मण की ये बाते पिता से न कहना।

पुनि कछु लषन कही कटु बानी। प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित जानी ॥
सकुचि राम निज सपथ दिवाई। लषन-सदेसु कहिय जनि जाई ॥

यह 'सकुचि' शब्द कितना भाव-गर्भित है। यह कवि की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि सूचित करता है। मनुष्य का जीवन सामाजिक है। वह समाज-बद्ध प्राणी है।

उसे अपने ही आचारण पर लज्जा या सकोच नही होता, अपने कुटुबी, इष्टमित्र या साथी के भद्दे आचारण पर भी होता है। पुत्र की करतूत सुनकर पिता का सिर नीचा होता है, भाई की करतूर सुनकर भाई का। इस बात का अनुभव तो हम बराबर करते हैं कि हमारा साथी हमारे सामने यदि किसी से बातचीत करते समय भद्दे या अश्लील शब्दो का प्रयोग करता है, तो हमे लज्जा मालूम होती है यह सकोच राम की सुशीलता और लोक-मर्य्यादा का भाव व्यजित करता है। मर्यादा-पुरुषोत्तम का चरित्र ऐसे ही कवि के हाथ मे पडने योग्य था।

सुमंत ने अयोध्या लौटकर राजा से लक्ष्मण की कही हुई बाते तो न कही पर इस घटना का उल्लेख बिना किए उससे न रहा गया। क्यो ? क्या लक्ष्मण से उससे कुछ शत्रुता थी ? नही। राम के शील का जो अद्भुत उत्कर्ष उसने देखा, उसे वह हृदय मे न रख सका। सुशीलता के मनोहर दृश्य का प्रभाव मानव-अत.करण पर ऐसा ही पडता है। सुमत को राम की आज्ञा के विरुद्ध कार्य करने का दोष अपने ऊपर लेना कबूल हुआ, पर उस शील-सौदर्य की झलक अपने ही तक वह न रख सका दशरथ को भी उसने दिखाया। कहने की आवश्यकता नही कि इस अतिम झलक ने राजा को और भी उस मृत्यु के पास पहुँचा दिया होगा जो आगे चलकर दिखाई गई है। इसे कहते हैं घटना का सूक्ष्म क्रम-विन्यास।

राम और लक्ष्मण के स्वभाव-भेद का बस एक और चित्र दिखा देना काफी होगा। समुद्र के किनारे खडे होकर समुद्र से विनय करते-करते राम को तीन दिन बीत गए। तब जाकर राम को क्रोध आया और "भय बिनु होई न प्रीति" वाली नीति की ओर ध्यान गया। वे बोले—

लछिमन बान-सरासन आनू। सोखउं बारिधि बिसिख-कृसानू॥
अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा॥

जिसके बाण खीचते ही "उठी उदधि उर-अतर ज्वाला" उसने पहले तीन दिनो तक हर एक प्रकार से विनय की। विनय की मर्यादा पूरी होते ही राम

ने अपना अतुल पराक्रम प्रकट किया जिसे देख लक्ष्मण को सतोष हुआ। विनयवाली नीति उन्हे पसद न थी। एक बार, दो बार कह देना ही वे काफी समझते थे।

बाल्मीकि ने राम के वनवास की आज्ञा पर लक्ष्मण के महाक्रोध का वर्णन किया है। पर न जाने क्यो वहाँ तुलसीदास बचा गए है।

चित्रकूट मे अपनी कुटिलता का अनुभव करती हुई कैकेयी से राम बार-बार इसलिये मिलते हैं कि उसे यह निश्चय हो जाय कि उनके मन मे उस कुटिलता का ध्यान कुछ भी नही है और उनकी ग्लानि दूर हो। वे बार-बार उसके मन में यह बात जमाना चाहते हैं कि जो कुछ हुआ, उसमे उसका कुछ भी दोष नही है। अपने साथ बुराई करनेवाले के हृदय को शात और शीतल करने की चिंता राम के सिवा और किसको हो सकती है ? दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि राम का यह शील-प्रदर्शन उस समय हुआ, जिस समय कैकेयी का अत.करण अपनी कुटिलता का पूर्ण अनुभव करने के कारण इतना द्रवीभूत हो गया था कि शील का सस्कार उस पर सब दिन के लिये जम सकता था। गोस्वामीजी के अनुसार हुआ भी ऐसा ही—

कैकेयी जौ लौं जियति रही।
तौ लौ बात मातु सो मुँह भरि भरत न भूलि कही।
मानी राम अधिक जननी तें, जननिहु गँस न गही॥

इतने पर भी कही गाँस रह सकती है ?

गार्हस्थ्य जीवन के दापत्य भाव के भीतर सबसे मनोहर वस्तु है उनकी 'एक भार्या की मर्यादा। इसके कारण यहाँ से वहाँ तक जिस गौरवपूर्ण माधुर्य का प्रसार दिखाई देता है, वह अनिर्वचनीय है। इसकी उपयोगिता का पक्ष दशरथ के चरित्र पर विचार करते समय दिखाया जायगा।

भक्तो को सबसे अधिक वश मे करनेवाला राम का गुण है शरणागत की रक्षा। अत्यंत प्राचीन काल से ही शरण-प्राप्त की रक्षा करना भारतवर्ष मे बडा भारी धर्म माना जाता है। इस विषय मे भारत की प्रसिद्धि सारे सभ्य

जगत् मे थी। सिकंदर से हारकर पारस का सम्राट् दारा जब भाग रहा था, तब उसके तीन साथी सरदारो ने विश्वासघात करके उसे मार डाला। उनमें से एक शकस्थान (सीस्तान) का क्षत्रप वरजयत था। जब सिकदर ने दड देने के लिये इन तीनो विश्वासघातको का पीछा किया, तब वरजयत ने भारत-वासियो के यहाँ आकर शरण ली और बच गया। प्राचीन यहूदियों के एक जत्थे का गाधार और दक्षिण मे शरण पाना प्रसिद्ध है। इस्लाम की तलवार के सामने कुछ प्राचीन पारसी जब अपने आर्य-धर्म-की रक्षा के लिये भागे तब भारतवर्ष ही की ओर उनका ध्यान गया, क्योकि शरणागत की रक्षा यहाँ प्राण देकर की जाती थी। अपनी हानि के भय से शरणागत का त्याग बडा भारी पाप माना जाता है—

सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पाँवर पाप-मय, तिनहि बिलोकत हानि॥

शरणागत की रक्षा की चिंता रामचन्द्र के हृदय मे दारुण शोक के समय मे भी दूर न हुई। सामने पडे हुए लक्ष्मण को देखकर वे विलाप कर रहे हैं—

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
बिपति-बँटावन बंधु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको ?
सुनु सुग्रीव ! साँचहू मोसन फेर्यो बदन बिधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यो लषन सो भ्राता॥
गिरि-कानन जैहै साखा-मृग हौं पुनि अनुज-संघाती।
ह्वै है कहा विभीषन की गति, रही सोच भरि छाती॥

राम के चरित्र की बस उज्ज्वलता के बीच एक धब्बा भी दिखाई देता है। वह है बालि को छिपकर मारना। बाल्मीकि और तुलसीदासजी दोनो ने इस धब्बे पर कुछ सफेद रग पोतने का प्रयत्न किया है। पर हमारे देखने मे तो यह धब्बा ही सपूर्ण रामचरित की उच्च आदर्श के अनुरूप एक कल्पना मात्र समझे जाने से बचता है। यदि यह धब्बा न होता तो राम की कोई बात मनुष्य की सी न लगती और वे मनुष्यो के बीच अवतार लेकर भी मनुष्यो के काम के न होते। उनका चरित्र भी उपदेशक महात्माओ की केवल महत्वसूचक

फुटकर बातो का संग्रह होता, मानव-जीवन की विषद अभिव्यक्ति सूचित करनेवाले संबद्ध काव्य का विषय न होता। यह धब्बा ही सूचित करता है कि ईश्वरावतार राम हमारे बीच हमारे भाई-बधु बनकर आये थे और हमारे ही समान सुख-दु:ख भोगकर चले गये। वे ईश्वरता दिखाने नही आए थे, मनुष्यता दिखाने आए थे। भूल-चूक या त्रुटि से सर्वथा रहित मनुष्यता कहीं नही होती है? इसी एक धब्बे के कारण हम उन्हे मानव-जीवन से तटस्थ नही समझते—तटस्थ क्या कुछ भी हटे हुए नही समझते हैं।

अब थोडा भरत के लोक-पावन निर्मल चरित्र की ओर ध्यान दीजिए। राम वन-यात्रा के पहले भरत के चरित्र की शृखला सघटित करनेवाली कोई बात हम नही पाते। उनकी अनुपस्थिति मे ही राम के अभिषेक की तैयारी हुई, राम वन को गए। ननिहाल से लौटने पर ही उनके शील-स्वरूप का स्फुरण आरंभ होता है। ननिहाल में जब दु:स्वप्न और बुरे शकुन होते हैं, तब वे माता-पिता और भाइयो का मगल मनाते हैं। कैकेयी के कुचक्र मे अणु-मात्र योग के सदेह की जड यही से कट जाती है। कैकेयी के मुख से पिता के मरण का सवाद सुन कर वे शोक कर ही रहे हैं कि राम के वन-गमन की बात सामने आती है जिसके साथ अपना सबंध—नाम मात्र का सही—समझकर वे एकदम ठक हो जाते हैं। ऐसी बुरी बात के साथ सम्बन्ध जोडने-वाली माता के रूप मे नही दिखाई देती। थोडी देर के लिए उसकी ओर से मातृ-भाव हट जाता है। ऐसा उज्जवल अत:करण ऐसी घोर कालिमा की छाया का स्पर्श तक सहन नही कर सकता। यह छाया किस प्रकार हटे; इसी के यत्न में वे लग जाते हैं। हृदय का सताप बिना शांति समुद्र राम के शील-सम्मुख हुए दूर नही हो सकता। वे चट विरह व्यथित पुरवासियो को लिए-दिये चित्रकूट मे जा पहुँचते हैं और अपना अन्त:करण भरी सभा मे लोकादर्श राम के सम्मुख खोलकर रख देते हैं। उस आदर्श के भीतर उनकी निर्मलता देख वे शांत हो जाते हैं और जिस बात से धर्म की मर्यादा रक्षित रहे, उसे करने की दृढ़ता प्राप्त कर लेते हैं।

भरत ने इतना सब क्या लोक-लज्जावश किया? नही, उनके हृदय में

सच्ची आत्मग्लानि थी, सच्चा सताप था। यदि ऐसा न होता तो अपनी माता कैकेयी के सामने वे दुःख और क्षोभ न प्रकट करते। यह आत्मग्लानि ही उनकी सात्विक वृत्ति की गहनता का प्रमाण है। इस आत्मग्लानि के कारण का अनुसधान करने पर हम उस तत्व तक पहुँचते हैं जिसकी प्रतिष्ठा रामायण का प्रधान लक्ष्य है। आत्मग्लानि अधिकतर अपने किसी बुरे कर्म को सोचकर होती है। भरतजी कोई बुरी बात अपने मन मे लाए तक न थे। फिर यह आत्मग्लानि कैसी? यह ग्लानि अपने सम्बन्ध मे लोक की बुरी धारणा के अनुमान मात्र से उन्हे हुई थी। लोग प्रायः कहा करते हैं कि अपना मन शुद्ध है, तो ससार के कहने से क्या होता है? यह बात केवल साधना की ऐकातिक दृष्टि से ठीक है, लोक-सग्रह की दृष्टि से नही। आत्म-पक्ष और लोक-पक्ष दोनो का समन्वय रामचरित का लक्ष्य है। हमे अपनी अतवृत्ति भी शुद्ध और सात्विक रखनी चाहिए और अपने सम्बन्ध मे लोक की धारणा भी अच्छी बनानी चाहिए। जिसका प्रभाव लोक पर न पडे, उसे मनुष्यत्व का पूर्ण विकास नही कह सकते। यदि हम वस्तुतः सात्विकशील है, पर लोग भ्रमवश या और किसी कारण हमे बुरा समझ रहे हैं, तो हमारी सात्विकशीलता समाज के किसी उपयोग की नही। हम अपनी सात्विकशीलता अपने साथ लिए चाहे स्वर्ग का सुख भोगने चले जायँ, पर अपने पीछे दस-पाँच आदमियो के बीच दस-पाँच दिन के लिए कोई भी शुभ प्रभाव न छोड जायँगे। ऐसे ऐकातिक जीवन का चित्रण जिसमे प्रभाविष्णुता न हो, रामायण का लक्ष्य नही। रामायण भरत ऐसे पुण्यश्लोक को समाने करती है जिनके सम्बन्ध मे राम कहते है—

मिटिहहिं पाप-प्रपच सब अखिल-अमंगल-भार।
लोक सुजस, परलोक सुख, सुमिरत नाम तुम्हार॥

जिन भरत को अयश की इतनी ग्लानि हुई, जिसके हृदय से धर्म-भाव कभी न हटा, उनके नाम के स्मरण से लोक मे यश और परलोक मे सुख दोनो क्यो न प्राप्त हो?

भरत के हृदय का विश्लेषण करने पर हम उसमे लोक-भीरुता, स्नेहार्द्रता, भक्ति और धर्म-प्रवणता का मेल पाते है। राम के आश्रम पर

जाकर उन्हे देखते ही भक्ति-वश 'पाहि ! पाहि !' कहते हुए वे पृथ्वी पर गिर पडते हैं। सभा के बीच मे जब वे अपने हृदय की बात निवेदन करने खडे होते हैं, तब भ्रातृस्नेह उमड आता है, बाल्यावस्था की बाते आँखो के सामने आ जाती हैं। इतने मे ग्लानि आ दबाती है और वे पूरी बात भी नही कह पाते हैं—

पुलकि सरीर सभा भए ठाढे। नीरज-नयन नेह जल-बाढ़े ॥
कहब मोर मुनिनाथ निबाहा। एहि तें अधिक कहौं मैं काहा ?
मै जानौं निज-नाथ सुभाउ। अपराधिहु पर कोह न काऊ।
मो पर कृपा सनेह बिसेखी। खेलत खुनिस न कबहूं देखी ॥
सिसुपन तें परिहरेउ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन-भंगू ॥
मै प्रभु-कृपा-रीति जिय जोही। हारेहु खेल जितावहिं मोही ॥

महूं सनेह-सकोच-बस सनमुख कहेउ न बैन।
दरसन-तृपित न आजु लगि प्रेम-पियासे नैन।

बिधि न सकेहु सहि मोर दुलारा। नीच बीच जननी मिस पारा ॥
यहउ कहत मोहि आजु न सोभा। अपनी समुझि साधु सुचि को भा ?
मातु मंद, मै साधु सुचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली ॥
फरइ कि कोदव बालि-सुसाली। मुकुता प्रसव कि संबुक ताली ॥
बिनु समुझे निज-अघ-परिपाकू। जारेउँ जाय जननि कहि काकू ?
हृदय हेरि हारेउँ सब ओरा। एकहि भाँति भलेहि भल मोरा ॥
गुरु गोसाई, साहिब सिय-रामू। लागत मोहि नीक परिनामू ॥

भरत को इस बात पर ग्लानि होती है कि मैं आप अच्छा बनकर माता को भला-बुरा कहने गया। "अपनी समुझि साधु सुचि को भा ?" जिसे दस भले आदमी-पवित्र और सज्जन लोग, जड और नीच नही—साधु और शुचि माने, उस की साधुता और शुचिता किसी काम की है। इस ग्लानि के दु.ख से उद्धार पाने की आशा एक इसी बात से होती है कि गुरु और स्वामी वशिष्ठ तथा राम ऐसे ज्ञानी और सुशील हैं। कहने की आवश्यकता नही कि यह आशा

ऐसे दृढ आधार पर थी कि पूर्ण रूप से फलवती हुई। भरत केवल लोक की दृष्टि मे पवित्र ही न हुए, लोक को पवित्र करने वाले भी हुए। राम ने उन्हे धर्म का साक्षात स्वरूप स्थिर किया और स्पष्ट कह दिया कि—

भरत ! भूमि रह राउरि राखी।

अब सत्य और प्रेम के विरोध मे दोनो की एक साथ रक्षा करने वाले परम यशस्वी महाराज दशरथ को लीजिए। वे राम को वनवास देने मे सत्य की रक्षा और प्रतिज्ञा का पालन हृदय पर पत्थर रखकर—उमडते हुए स्नेह और वात्सल्य-भाव को दबाकर—करते हुए पाये जाते हैं इसके उपरान्त हम उन्हे स्नेह के निर्वाह मे तत्पर और प्रेम की पराकाष्ठा को पहुँचते हुए पाते हैं। सत्य की रक्षा उन्होंने प्रिय पुत्र को वनवास देकर और स्नेह की रक्षा प्राण देकर की। यही उनके चरित्र की विशेषता है—यही उनके जीवन का महत्व है। नियम और शील, धर्म के दो अग हैं। नियम का सम्बन्ध विवेक से है और शील का हृदय से। सत्य बोलना, प्रतिज्ञा का पालन करना नियम के अतर्गत है। दया, क्षमा, वात्सल्य, कृतज्ञता आदि शील के अतर्गत हैं। नियम के लिए आचरण ही देखा जाता है, हृदय का भाव नही देखा जाता। केवल नाम की इच्छा रखने वाला पाषडी भी नियम का पालन कर सकता है—और पूरी तरह कर सकता है। पर शील के लिए सात्विक हृदय चाहिए। कभी-कभी ऐसी विकट स्थिति आ पड़ती है कि एक को राह देने से दूसरे का उल्लघन अनिवार्य हो जाता है। किसी निरपराध को फाँसी हुआ चाहती है। हम देख रहे हैं कि थोडा-सा झूठ बोल देने से उसकी रक्षा हो सकती है। अतः एक ओर तो दया हमे झूठ बोलने की प्रेरणा कर रही है; दूसरी ओर 'नियम' हमे ऐसा करने से रोक रहा है। इतने भारी शील-साधन के सामने तो हमे अवश्य नियम शिथिल कर देना पड़ता है। पर जहाँ शीलपक्ष इतना ऊँचा नही है, वहाँ उभयपक्ष की रक्षा का मार्ग ढूँढना पडेगा।

दशरथ के सामने दोनो पक्ष प्रायः समान थे—बल्कि यो कहिए कि नियम की ओर का पलडा कुछ झुकता हुआ था। एक ओर तो सत्य की रक्षा थी, दूसरी ओर प्राण से भी अधिक प्रिय पुत्र का स्नेह। पर पुत्र-वियोग का दु:ख

दशरथ के ही ऊपर पडने वाला था (कौशल्या के दुःख को भी परिजन का दुःख समझकर दशरथ का ही दुःख समझिए) । इससे अपने ऊपर पड़ने वाले दुःख के डर से सत्य का त्याग उनसे न करते बना । उन्होंने सत्य की रक्षा की, फिर अपने ऊपर पडने वाले दुख की परमावस्था को पहुँचकर स्नेह की भी रक्षा की । इस प्रकार सत्य और स्नेह, नियम और शील दोनो की रक्षा हो गई । रामचन्द्र जी भरत को समझाते हुए इस विषय को स्पष्ट करके कहते हैं—

राखेउ राउ सत्य मोंहि त्यागी । तनु परिहरेउ प्रेम-पनु लागी ।।

शील और नियम, आत्मपक्ष और लोक-पक्ष के समन्वय द्वारा धर्म की यही सर्वतोमुख रक्षा रामायण का गूढ रहस्य है । वह धर्म के किसी अग को नोचकर दिखाने वाला ग्रन्थ नही है । यह देखकर बार-बार प्रसन्नता होती है कि आर्य्य-धर्म का यह सार-सपुट हिन्दी कवियो मे से एक ऐसे महात्मा के हाथ मे पडा जिसमें उसके उद्‌घाटन की सामर्थ्य थी । देखिए, किस प्रकार उन्होंने राम के मुख से उपर्युक्त विवेचन का सार चौपाई के दो चरणो मे ही कहला दिया ।

रामायण की घटना के भीतर तो दशरथ का यह महत्व ही सामने आता है । पर कथोपकथन-रूप मे जो कवि-कल्पित चित्रण है, उसमे वाल्मीकि और तुलसी दास दोनो ने दशरथ की अतर्वृत्ति का कुछ और भी आभास दिया है । विश्वामित्र जब बालक राम-लक्ष्मण को माँगने लगे, तब दथरथ ने देने मे बहुत आगा-पीछा किया । वे सब कुछ देने को तैयार थे, पर पुत्रो को देना नही चाहते थे । बृद्धावस्था मे पाये हुए पुत्रो पर इतना स्नेह स्वाभाविक ही था । वे मुनि से कहते हैं—

चौथे पनै पाएउँ सुत चारी । विप्र बचन नहिं कहेहु विचारी ।।
माँगहु भूमि धेनु धन कोसा । सरबस देउँ आजु सह रोसा ।।
देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं । सोउ मुनि ! देउँ निमिष एक माहीं ।।
सब सुत प्रिय प्रान की नाईं । राम देत नहिं बनइ गोसाईं ।।

इससे प्रकट होता है कि उनका वात्सल्य-स्नेह ऐसा न था कि वे साधारण कारण-वश उसकी प्रेरणा के विरुद्ध कुछ करने जाते । मुनि के साथ जो उन्होंने

बालकों को कर दिया, वह एक तो शाप के भय से, दूसरे उनकी अस्त्र-शिक्षा की आशा से।

उस वृद्धावस्था मे वे अपनी छोटी रानी के वश मे थे, यह उस घबराहट से प्रकट होता है जो उसका कोप सुनकर उन्हे हुई। वे उसके पास जाकर कहते हैं—

अनहित तोर प्रिया केइ कीन्हा। केहि दुइ सिर, केहि जम चह लीन्हा॥
कहु केहि रंकहि करउँ नरेसू। कहु केहि नृपहि निकासउँ देसू॥
जानसि मोर सुभाउ बरोरू। मन तव आनन-चद-चकोरू॥
प्रिया! प्रान, सुत, सरबस मोरे। परिजन प्रजा सकल बस तोरे॥

प्राण, पुत्र, परिजन, प्रजा सबको कैकेयी के वश में कहना स्वय राजा का कैकेयी के वश मे होना अभिव्यजित करता है। एक स्त्री के कहने से किसी मनुष्य को यमराज के यहाँ भेजने के लिए, किसी दरिद्र को राजा बनाने के लिए, किसी राजा को देश से निकालने के लिए तैयार होना स्त्रैण होने का ही परिचय देना है। कैकेयी के सामने जाने पर न्याय और विवेक थोडी देर के लिए विश्राम ले लेते थे। वाल्मीकि जी ने भी इसी प्रकार की बाते उस अवसर पर दशरथ से कहलाई है।

दशरथ के हृदय की इस दुर्बलता के चित्र के भीतर प्रचलित दापत्य-विधान का वह दोष भी झलकता है जिसके पूर्ण परिहार का पथ आगे चलकर मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र ने अपने आचरण द्वारा प्रदर्शित किया। आधी उम्र तक विवाह पर विवाह करते जाने का परिणाम अन्त मे एक ऐसा बे मेल जोडा होता है जो सब मामलो का मेल बिगाड देता है और जीवन किरकिरा हो जाता है। एक मे तो प्रेम रहता है, दूसरे मे स्वार्थ। अत एक तो दूसरे के वश मे हो जाता है और दूसरा उसके वश के बाहर रहता है। एक तो प्रेम-वश दूसरे के सुख-सतोष के प्रयत्न मे रहा करता है, दूसरा उसके सुख-सतोष की वही तक परवा रखता है जहाँ तक उससे स्वार्थ-साधन होता है। राम ने 'एक भार्य्या' की मर्य्यादा द्वारा जिस प्रकार प्रेम के अपूर्व माधुर्य्य और सौन्दर्य का विकास दिखाया, उसी प्रकार अपने पिता की परिस्थिति से भिन्न अपनी

परिस्थिति भी लोक को दिखाई। कैकेयी ने एक बार दशरथ के साथ युद्ध-स्थल मे जाकर पहिए मे उँगली लगाई थी और उसके बदले मे दो वरदान लिए थे, तो सीता चौदह वर्ष राम के साथ जगलो-पहाडो मे मारी-मारी फिरी, और उस मारे-मारे फिरने को ही उन्होने अपने लिए बडा भारी वरदान समझा। अन्त मे जब राजधर्म की विकट समस्या सामने आती है, तब हम राम को ठीक उसका उलटा करने मे समर्थ पाते है जो दशरथ ने कैकेयी को प्रसन्न करने के लिए कहा था। दशरथ एकमात्र कैकेयी को प्रसन्न करने के लिए किसी राजा को बिना अपराध देश से निकालने से लिए तैयार हुए थे। पर राम प्रजा को प्रसन्न करने के लिए बिना किसी अपराध के प्राणो से भी प्रिय सीता को निकालने को तैयार हुए। दशरथ अपनी स्त्री के कहने से किसी राजा तक को देश से निकालते, पर राम ने एक धोबी तक के कहने से अपनी स्त्री को निकाल दिया। इतने पर भी सीता और राम मे जो परस्पर गूढ प्रेम था, उसमे कुछ भी अन्तर न पडा। सीता ने स्वामी के इस व्यवहार का कारण राजधर्म की कठोरता ही समझा। यह नही समझा कि राम का प्रेम मेरे ऊपर कम हो गया।

सात्विक, राजस और तामस इन तीन प्रकृतियो के अनुसार चरित्र-विभाग करने से दो प्रकार के चित्रण हम गोस्वामी जी मे पाते है—आदर्श और सामान्य। आदर्श चित्रण के भीतर सात्विक और तामस दोनो आते हैं। राजस को हम सामान्य चित्रण के भीतर ले सकते हैं। इस दृष्टि से सीता, राम, भरत, हनुमान और रावण आदर्श-चित्रण के भीतर आवेंगे तथा दशरथ, लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव, कैकेयी सामान्य चित्रण के भीतर। आदर्श चित्रण मे हम या तो यहाँ से वहाँ तक सात्विक वृत्ति का निर्वाह पावेंगे या तामस का। प्रकृति-भेद-सूचक अनेक रूपता उसमे न मिलेगी। सीता, राम, भरत, हनुमान् ये सात्विक आदर्श है, रावण तामस आदर्श है।

सात्विक आदर्शो का वर्णन हो चुका। हनुमान् के सम्बन्ध मे इतना समझ रखना आवश्यक है कि वे सेवक के आदर्श हैं। सेव्य-सेवक-भाव का पूर्ण स्फुरण उनमे दिखाई पड़ता है। बिना किसी प्रकार के पूर्व परिचय के राम को

देखते ही उनके शील, सौन्दर्य और शक्ति के साक्षात्कार मात्र पर मुग्ध होकर पहले-पहल आत्म-समर्पण करने वाले भक्तिराशि हनुमान् ही हैं। उनके मिलते ही मानो भक्ति के आश्रय और आलम्बन दोनो पक्ष पूरे हो गए और भक्ति की पूर्ण स्थापना लोक में हो गई। इसी राम-भक्ति के प्रभाव से हनुमान् सब राम-भक्तो की भक्ति के अधिकारी हुए।

सेवक मे जो-जो गुण चाहिएँ, सब हनुमान् मे लाकर इकट्ठे कर दिए गए हैं। सबसे आवश्यक बात तो यह है कि स्वामी के कार्य्यों के लिए, सब कुछ करने के लिए, उनमे निरलसता और तत्परता हम हर समय पाते हैं। समुद्र के किनारे सब बदर बैठे समुद्र पार करने की चिता कर ही रहे थे, अगद फिरने का सशय करके आगा-पीछा कर ही रहे थे कि वे चट समुद्र लाँघ गये। लक्ष्मण को जब शक्ति लगी तब वैद्य को भी चट हनुमान् ही लाये और औषधि के लिए भी पवन-वेग से वे ही दौडे। सेवक को अमानी होना चाहिए। प्रभु के कार्य-साधन मे उसे अपने मान-अपमान का ध्यान न रखना चाहिए। अशोक-वाटिका मे से पकडकर राक्षस उन्हे रावण के सामने ले जाते हैं। रावण उन्हे अनेक दुर्वाद कहकर हँसता है। इस पर उन्हे कुछ भी क्रोध नही आता। अगद की तरह "हौ तव दसन तोरिबे लायक" वे नही कहते हैं। ऐसा करने से प्रभु के कार्य मे हानि हो सकती थी। अपने मान का ध्यान करके स्वामी का कार्य्य बिगाडना सेवक का कर्त्तव्य नही। वे रावण से साफ कहते हैं—

मोहि न कछु बाँधे कर लाजा। कीन्ह चहौं निज प्रभु कर काजा॥

जिस प्रकार राम राम थे, उसी प्रकार रावण रावण था। वह भगवान् को उन ललकारने वालो मे से था जिसकी ललकार पर उन्हे आना पड़ा था। बालकाड मे गोस्वामीजी ने पहले उसके उन अत्याचारो का वर्णन करके जिनसे पीडित होकर दुनियाँ पनाह माँगती थी, तब राम का अवतार होना कहा है। वह उन राक्षसो का सरदार था जो गाँव जलाते थे, खेती उजाड़ते थे, चौपाए नष्ट करते थे, ऋषियो को यज्ञ आदि नही करने देते थे, किसी की कोई अच्छी चीज देखते थे तो छीन ले जाते थे और जिनके खाए हुए लोगो की हड्डियो से दक्खिन का जगल भरा पडा था। चगेजखाँ और नादिरशाह तो मानो लोगो

को उसका कुछ अनुमान कराने के लिए आए थे। राम और रावण को चाहे अहुरमज्द और अह्रमान समझिए, चाहे खुदा और शैतान। फर्क इतना ही समझिए कि शैतान और खुदा की लडाई का मैदान इस दुनिया से जरा दूर पडता था और राम-रावण की लडाई का मैदान यह दुनिया ही थी।

ऐसे तामस आदर्श मे धर्म के लेश का अनुसधान निष्फल ही समझ पडेगा। पर हमारे यहाँ की पुरानी अक्ल के अनुसार धर्म के कुछ आधार बिना कोई प्रताप और ऐश्वर्य्य के साथ एक क्षण नही टिक सकता, रावण तो इतने दिनो तक पृथ्वी पर रहा। अतः उसमे धर्म का कोई न कोई अग अवश्य था। वह अग अवश्य था जिससे शक्ति और ऐश्वर्य्य की प्राप्ति होती है। उसमे कष्ट-सहिष्णुता थी। वह बडा भारी तपस्वी था। उसकी धीरता मे भी कोई सदेह नही है। भाई, पुत्र जितने कुटुम्बी थे, सबके मारे जाने पर भी वह उसी उत्साह के साथ लडता रहा। अब रहे धर्म के सत्य आदि और अग जो किसी वर्ग की रक्षा के लिये आवश्यक होते है। उनका पालन राक्षसो के बीच वह अवश्य करता रहा होगा। उसके बिना राक्षस-कुल रह कैसे सकता था? पर धर्म का पूर्ण भाव लोक-व्यापकत्व मे हैं। यो तो चोर और डाकू भी अपने दल के भीतर परस्पर के व्यवहार मे धर्म बनाए रखते हैं। लोक-धर्म वह है जिसके आचरण से पहले तो किसी को दु:ख न पहुँचे, यदि पहुँचे भी तो विरुद्ध आचरण करने से जितने लोगो को पहुँचता है, उससे कम लोगो को। सारांश यह कि रावण मे केवल अपने लिये और अपने दल के लिये शक्ति अर्जित करने भर को धर्म था, समाज मे उस शक्ति का सदुपयोग करनेवाला धर्म नही था। रावण पण्डित था, तपस्वी था, राजनीति-कुशल था, धीर था, वीर था, पर सब गुणो का उसने दुरुपयोग किया उसके मरने पर उसका तेज राम के मुख मे समा गया। सत् से निकलकर जो शक्ति असत् रूप हो गई थी, वह फिर सत् मे विलीन हो गई।

अब सामान्य चित्रण लीजिए। राम के साथ लक्ष्मण का शील-निरूपण कुछ हो चुका है। यहाँ केवल यही कहना है कि उनकी उग्रता ऐसी न थी जो करुणा या दया के गहरे अवसरो पर भी कोमलता या आर्द्रता न आने दे।

सीता को जब वाल्मीकी के आश्रम पर छोड़ने गए थे, तब वे करुणभाव में मग्न थे। उनके मुँह से कोई बात न निकलती थी। वे राम के बडे भारी आज्ञाकारी थे। वे अपने हृदय के वेग को सहकर भी उनकी आज्ञा का पालन करते थे। क्रोध उन्हे कटु वचन के लिये उभारता था, पर राम का रुख देखते ही वे चुप हो जाते थे। सीता के वनवास की कठोर आज्ञा राम के मुख से सुनते ही वे सूख गए, करुणा से विह्वल हो गए। पर जी कडा करके वे सीता को पहुँचा आए। आज्ञाकारिता के लिये वे आदर्श हुए। पर वह नियम भी ऐसे अवसरो पर उन्होने शिथिल कर दिया जब आज्ञा के पालन मे उन्होने अधिक हानि देखी और उल्लघन का परिणाम केवल अपने ही ऊपर देखा। इन सब बातो के विचार से उनका चरित्र सामान्य के भीतर ही रखा है।

गृह-नीति की दृष्टि से विभीषण शत्रु से मिलकर अपने भाई और कुल का नाश करानेवाले दिखाई पडते हैं; पर और विस्तीर्ण क्षेत्र के भीतर लेकर देखने से उनके इस स्वरूप की कलुषता प्रायः नही के बराबर हो जाती है। गोस्वामी-जी ने इसी विस्तृत दृष्टि से उनके चरित्र का चित्रण किया है। विभीषण राम-भक्त थे, अर्थात् सात्त्विक गुणो पर श्रद्धा रखनेवाले थे। वे राम के लोक-विश्रुत शील, शक्ति और सौदर्य्य पर मुग्ध थे। भाई के राज्य के लोभ के कारण वे राम से नही मिले थे। इस बात का निश्चय उनके बार-बार तिरस्कृत होने पर भी रावण को समझाते जाने से हो जाता है। यदि उन्हे राज्य का लोभ होता तो वे एक ओर तो रावण को युद्ध के लिये उत्तेजित करते, दूसरी ओर भीतर से शत्रु की सहायता करते। पर वे रावण की लात खाकर खुल्लमखुल्ला राम की शरण मे यह कहते हुए गए—

राम सत्य-संकल्प प्रभु सभा काल-बस तोरि ॥
मै रघुबीर-सरन अब, जाउ, देहु जनि खोरि ॥

लोभ-वश न सही, शायद विभीषण भाई के व्यवहार से रूठकर क्रोध-वश राम से जा मिले हो। इस सदेह का निवारण रावण के लात मारने पर विभीषण का कुछ भी क्रोध न करना दिखाकर गोस्वामीजी ने किया है। लात मारने पर विभीषण इतना ही कहते हैं—

तुम पितु-सरिस भलेहि मोहि मारा।
राम भजे हित, नाथ, तुम्हारा* ॥

इस स्थल पर गोस्वामीजी का चरित्र-निर्वाह-कौशल झलकता है। यदि यहाँ थोडी-सी भी असावधानी हो जाती, विभीषण क्रोध करते हुए दिखा दिए जाते, तो जिस रूप मे विभीषण का चरित्र वे दिखलाना चाहते थे, वे बाधित हो जाता। अधिकतर यही समझा जाता कि क्रोध के आवेश मे विभीषण ने रावण का साथ छोडा। कवि ने विभीषण को साधु प्रकृति का बनाया है। हरी हुई सीता को लौटाने के बदले रावण का राम से लडने के लिये तैयार होना असाधुता की चरम सीमा थी, जिसे विभीषण की साधुता न सह सकी, गोस्वामीजी का पक्ष यह है। विभीषण की साधुता औसत दरजे की थी। वह इतनी बढी नही थी कि राम द्वारा दिए हुए भाई के राज्य की ओर से वे उदासीनता प्रकट करते।

सुग्रीव का चरित्र तो और भी औसत दरजे का है। न उनकी भलाई ही किसी भारी हद तक पहुँची हुई दिखाई देती है, न बुराई ही। राम के साथ उन्होंने मैत्री की और राम का कुछ कार्य्य-साधन करने के पहले ही बडे भाई का राज्य पाया। पर जैसा कि साधारणतः मनुष्य का स्वभाव (बदर का स्वभाव कहने से और कुछ कहते ही नही बनेगा) होता है, वे सुख-विलास में फँसकर राम का कार्य्य भूल गए। जब हनुमान् ,ने चेताया, तब वे घबराए और अपने कर्त्तव्य मे दत्तचित्त हुए।

अब तक जिस चित्रण का वर्णन हुआ है, वह एक व्यक्ति का चित्रण है। इसी प्रकार किसी समुदाय-विशेष की प्रकृति का भी चित्रण होता है, जैसे स्त्रियो की प्रकृति का, बालकों की प्रकृति का। स्त्रियो की प्रकृति की जैसी तद्रूप छाया हम 'मानस' के अयोध्याकाड मे देखते हैं, वैसी छाया के प्रदर्शन का प्रयत्न तक हम और किसी हिंदी कवि मे नही पाते। नीची श्रेणी की स्त्रियो के सामने बहुत कम प्रकार के विषय आते हैं। पर मनुष्य का मन ऐसी वस्तु है

* वाल्मीकि का वर्णन भी इसी प्रकार है।

कि अपनी प्रवृत्ति के अनुसार लगे रहने के लिये कुछ न कुछ चाहिए। वह खाली नही रह सकता। इससे वे अपने राग-द्वेष के अनेक आधार यो ही बिना कारण ढूंढकर खड़ा करती रहती हैं। यदि वे चार आदमियो के बीच रख दी जायँ, तो हम बहुत थोडे दिनो मे देखेगे कि कुछ तो उनके अनुराग के पात्र हो गए हैं और कुछ द्वेष के। मूर्ख स्त्रियो की यह विशेषता ध्यान देने योग्य है। अपने लिये राग और द्वेष का पात्र चुन लेने पर वे अपने वाग्विलास और भाव-परिपाक के लिये सहयोगी ढूंढती हैं। मथरा का इसी अवस्था मे हम पहले-पहल दर्शन पाते हैं। न जाने उसे क्यो कौशल्या अच्छी नही लगती, कैकेयी अच्छी लगती है*। राम के अभिषेक की तैयारी देखकर वह कुढ जाती है और मुँह लटकाए कैकेयी के पास आ खडी होती है। कैकेयी को उसके अनुराग का पता चाहे रहा हो, पर अभी तक द्वेष का पता बिलकुल नही है। वह मुँह लटकाने का कारण पूछती है। तब—

उतरु देइ नहिं, लेइ उसासू। नारिचरित करि ढारइ आँसू॥
हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे। दीन्ह लषन सिख अस मन मोरे॥
तबहुँ न बोल चेरि बडि पापिन। छाँड़इ स्वास कारि जनु सापिनि॥

उसकी इस मुद्रा से प्रकट होता है कि उसने अपने द्वेष का आभास इसके पहले कैकेयी को नही दिया था, यदि दिया भी रहा होगा, तो बहुत कम। जल्दी उत्तर न देने से यह सूचित होता है कि जो बात वह कहना चाहती है, वह कैकेयी के लिये बिलकुल नई है, अत उसे सहसा नही कह सकती। किस ढग से कहे, यह सोचने मे उसे कुछ काल लग जाता है। इसके अतिरिक्त किसी के सामने अब तक न प्रकट किए गए दुख के वेग का भार भी दबाए हुए

* बाल्मीकिजी ने उसे "कैकेयी के मातृकुल की दासी" कहकर कारण का पूरा सकेत कर दिया है। इस प्रकार की दासी का व्यवहार घर के और लोगो के साथ कैसा रहता है, यह हिंदू गृहस्थ मात्र जानते हैं। पर गोस्वामीजी ने कारण का सकेत न देकर उनकी प्रवृत्ति को मूर्ख स्त्रियो की सामान्य प्रवृत्ति—नारिचरित—के अतर्गत रखा है।

है। इतने मे "गाल बड तोरे" इस वाक्य से जी की बात धीरे-धीरे बाहर करने का एक रास्ता निकलता है। वह अपनी वही मुद्रा कायम रखती हुई कहती है—

कत सिख देइ हमहिं कोउ माई। गाल करब केहि कर बलु पाई?

"किसका बल पाकर गाल करूँगी?" इसका मतलब यह है कि मुझे एक तुम्हारा ही बल ठहरा—मैं तुम्हे चाहती हूँ और तुम मुझे चाहती हो—सो मैं देखती हूँ कि तुम्हारो यहाँ कोई गिनती ही नही है। क्रोध द्वेष आदि के उद्गार के इस प्रकार क्रम क्रम से निकालने की पटुता स्त्रियो मे स्वाभाविक होती है, क्योकि पुरुषो के दबाव मे रहने के कारण तथा अधिक लज्जा, सकोच के कारण ऐसे भावो के वेग को एक-बारगी निकालने का अवसर उन्हे कम मिलता है।

रानी पूछती है कि "सब लोग तो कुशल से तो है?" इसका उत्तर फिर उसी प्रणाली का अनुसरण करती हुई वह देती है—

रामहि छाँहि कुसल केहि आजू। जिनहि जनेसु देइ जुबराजू॥
भएउ कौसिलहि बिधि अति दाहिन। देखत गरब रहत उर नाहिन॥

किसी को क्रमशः अपनी भाव-पद्धति पर लाना, थोडा-बहुत जिसे कुछ भी बात करना आता है, उसे भी आता है। जिस प्रकार अपनी विचार पद्धति पर लाने के लिए क्रमश. प्रमाण पर प्रमाण देते जाने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार क्रमश किसी के हृदय को किसी भाव-पद्धति पर लाने के लिये उसके अनुकूल मनोविकार उत्पन्न करते चलने की आवश्यकता होती है। राम के प्रति द्वेष-भाव उत्पन्न करने के लिए मथरा सपत्नी को सामने रखती है जिसके गर्व और अभिमान को न सह सकना स्त्रियो मे स्वाभाविक होता है। सपत्नी के घमण्ड की बात जी मे आने पर कहाँ तक ईर्ष्या उत्पन्न न होगी? इस ईर्ष्या के साथ भरत के प्रति वात्सल्यभाव भी तो कुछ जगाना चाहिए। इस विचार से फिर मथरा कहती है—

पूत बिदेसु न सोच तुम्हारे। जानति हहु बस नाहु हमारे॥

इतना होने पर भी राजा की कुटिलता के निश्चय द्वारा जब तक राजा के

प्रति कुछ क्रोध उत्पन्न न होगा, तब तक कैकेय मे आवश्यक कठोरता और दृढता कहाँ से आवेगी ? कैकेयी के मन मे यह बात जम जानी चाहिए कि भरत जान बूझकर हटा दिए गए है। इसके लिए ये बचन है—

नींद बहुत प्रिय सेज तुराई। लखहु न भूप-कपट-चतुराई ॥

इस पर कैकेयी जब कुछ फटकारती है और बार बार उसके खेद का कारण पूछती है, तब वह ऐसा खेद प्रकट करती है जैसा उसको होता है जो किसी से उसके परम हित की बात कहना चाहता है, पर वह उसे केवल तुच्छ या छोटा समझकर ध्यान ही नही देता। उसके वचन ठीक वे ही है जो ऐसे अवसर पर स्त्रियो के मुख से निकलते है—

एकहि बार आस सब पूजी। अब कछु कहब जीभ करि दूजी ?
फोरइ जोगु कपार अभागा। भलेउ कहत दुख रउरेहि लागा ॥
कहहि झूँठ फुरि बात बनाई। ते प्रिय तुम्हहि, करुइ मै माई ॥
हमहुँ कहब अब ठकुरसोहाती। नाहि त मौन रहब दिन-राती ॥
करि कुरूप विधि परबस कीन्हा। बवा सो लुनिय, लहिय जो दीन्हा ॥

मंथरा अब अपने उस भाग्य को दोष दे रही है जिसके कारण वह ऐसी कुरूप हुई, दासी के घर उसका जन्म हुआ, उसकी बात की कोई कुछ कद्र ही नही करता वह अच्छा भी कहती है तो लोगो को बुरा लगता है। विश्वास न करनेवाले के सामने कुछ तटस्थ होकर अपने भाग्य को दोष देने लगना विश्वास उत्पन्न कराने का एक ऐसा ढग है जिसे कुछ लोग विशेषत· स्त्रियाँ स्वभावत. काम मे लाती हैं। इससे श्रोता का ध्यान उसके खेद की सचाई पर चला जाता है और फिर क्रमश. उसकी बातो की ओर आकर्षित होने लगता है। इस खेद की व्यजना प्राय· 'उदासीनता' के द्वारा की जाती है, जैसे "हमे क्या करना है ? हमने आप के भले के लिए कहा था। कुछ स्वभाव ही ऐसा पड गया है कि किसी का अहित देखा नही जाता।" मंथरा के कहे हुए खेद-व्यजक उदासीनता के ये शब्द सुनते ही झगडा लगानेवाली स्त्री का रूप सामने खडा हो जाता है—

कोउ नृप होइ हमहिं का हानी । चेरि छाड़ि अब होब कि रानी ?
जारइ जोग सुभाउ हमारा । अनभल देखि न जाइ तुम्हारा ।।

अब तो कैकेयी को विश्वास हो रहा है, यह देखते ही वह राम के अभिषेक से होनेवाली कैकेयी की दुर्दशा का चित्र खीचती है और यह भी कहती जाती है कि राम का तिलक होना मुझे अच्छा लगता है, राम से मुझे कोई द्वेष नही है, पर आगे तुम्हारी क्या दशा होगी, यही सोचकर मुझे व्याकुलता होती है—

रामहिं तिलक कालि जो भयऊ । तुम कहं बिपति-बीज बिधि बयऊ ।।
रेख खँचाइ कहहुँ बल भाखी । भामिनि भइहु दूध कै माखी ।
जौं सुत सहित करहु सेवकाई । तौ घर रहहु, न आन उपाई ।।

इस भावी दृश्य की कल्पना से भला कौन स्त्री क्षुब्ध न होगी ? किसी बात पर विश्वास करने या न करने की भी मनुष्य की रुचि नही होती । जिस बात पर विश्वास करने की मनुष्य को रुचि नही होती, उसके प्रमाण आदि वह सुनता ही नही; सुनता भी है तो ग्रहण नही करता । मथरा ने पहले अपनी बात पर विश्वास करने की रुचि भिन्न-भिन्न मनोविकारो के उद्दीपन द्वारा कैकेयी से उत्पन्न की । जब यह रुचि उत्पन्न हो गई, तब स्वभावतः कैकेयी का अंत-करण भी उसके समर्थन मे तत्पर हुआ—

सुनु मंथरा बात फुर तोरी । दहिनि आँख नित फरकइ मोरी ।।
दिन प्रति देखउँ राति कुसपने । कहौं न तोहि मोह-बस अपने ।।
काह करौं सखि ? सूध सुभाऊ । दाहिन-बाम न जानौं काऊ ।।

इस प्रकार जो भावी दृश्य मन मे जम जाता है, उससे कैकेयी के हृदय में घोर नैराश्य उत्पन्न होता है । वह कहती है—

नैहर जनमु भरब बरु जाई । जियत न करब सवति-सेवकाई ।।
अरि-बस दैव जिआवत जाही । मरनु नीक तेहि जीव न चाही ।।

इस दशा मे मथरा उसे सँभालती है और कार्य मे तत्पर करने के लिए आशा बँधाती हुई उत्साह उत्पन्न करती है—

जेइ राउर अति अनभल ताका । सोइ पाइहि यह फलु परिपाका ।।
पूछेउँ गुनिन्ह, रेख तिन्ह खाँची । भरत भुआल होहिं यह साँची ।।

इस प्रसग के चित्रण को देख यह समझा जा सकता है कि गोस्वामी जी ने मानव-अन्त.करण के कैसे-कैसे रहस्यो का उद्घाटन किया है। ऐसी गूढ उद्भावना बिना सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि के नही हो सकती।

बालको की प्रवृत्ति का चित्रण हम परशुराम और लक्ष्मण के सम्वाद मे पाते है। अकारण चिढने वालो को चिढाना बालको के स्वभाव के अन्तर्गत होता है। चिडचिडे लोगो की दवा करने का भार मानो समाज ने बालको ही को दे रखा है। राम के विनय करने पर भी परशुराम को ज्यो ही लक्ष्मण चिढते देखते हैं, त्यो ही उनकी बाल प्रवृत्ति जाग्रत हो जाती है। लक्ष्मण का स्वभाव उग्र था, इससे इस कौतुक के बीच-बीच मे क्रोध का भी आभास हमे मिलता है। परशुराम को आकृति जब अत्यन्त भीषण और वचन अत्यन्त कटु हो जाते हैं, तब लक्ष्मण के मुँह से व्यग्य वचन न निकल कर अमर्ष के उग्र शब्द निकलने लगते हैं। परशुराम जब कुठार दिखाने लगे, तब लक्ष्मण को भी क्रोध आ गया और वे बोले—

भृगुवर ! परसु देखावहु मोही। बिप्र बिचारि बचेउ नृप-द्रोही ॥
मिले न कबहु सुभट रन गाढे। द्विज देवता घरहिं के बाढे ॥

गोस्वामीजी ने लक्ष्मण की इस बाल-वृत्ति को लोक-व्यवहार से बिल्कुल अलग नही रखा है, इसे परशुराम की क्रोधशीलता की प्रतियोगिता मे रखा है। यह भी अपना लोकोपयोगी स्वरूप दिखा रही है। यदि परशुराम मुनियो की तरह आते, जो शान्त और क्षमाशील होते है, तो लक्ष्मण को अवसर न मिलता। रामचन्द्रजी कहते हैं—

जौ तुम अवतेहु मुनि की नाईं। पद-रज सिर सिसु धरत गोसाईं ॥
छमहु चूक अनजानत केरी। चहिय विप्र उर कृपा घनेरी ॥

———

कृष्ण बिहारी मिश्र
(१६४७-२०१६)

भाषा-माधुरी और कविता

कविता, चित्र एव सगीत का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कविता इन सबमे प्रबल है। दृश्य काव्य मे हम इन सबका एक ही स्थान पर समावेश पाते हैं।

चित्रकार अपने खीचे हुए चित्र से दृश्य विशेष का यथावत् बोध करा देता है। चित्र-कौशल से चित्रित वस्तु दूर होते हुए भी दर्शक को सुलभ हो जाती है। यौरोपियन प्रकांड रण के आदि कारण, "कैसर" यहाँ कहाँ हैं, पर चित्रकार के कौशल से उनके रोबदार चेहरे को हम लोग भारतवर्ष में बैठे-बैठे देख लेते हैं। उनके चेहरे की गठन हमे उनकी प्रकृति का पूरा पता दे देती है। अस्तु। चित्रकार अपने इस कार्य को चित्र द्वारा सम्पादित करता है।

कवि का काम भी वही है। उसके पास रग की प्याली और कूंची नही है, पर उसे भी वही कैसर का स्वरूप खीचना है। इस कार्य को पूरा करने के लिये उसके पास शब्द हैं। कवि को ये शब्द ही सर्वस्व है। इन्ही को वह ऐसे अच्छे ढग से सजाता है कि शब्द-सजावट देखने वाले के मानस-पट पर भी वही चित्र खिच जाता है, जिसे चित्रकार कागज पर, भौतिक आँखो के लिये, खीचता है। हमारे सामने काग़ज नही है। हमारी आँखे बन्द हैं। हम केवल कवि के शब्द सुन रहे हैं। फिर भी हमे ऐसा जान पडता है कि कैसर हमारे सामने ही खडे हैं। उनका रग-रूप, क्रोध से लाल चेहरा, डरावनी दृष्टि, गजब गिराने वाली आवाज, सब कुछ तो सामने ही मौजूद है। विक्रम-सवत् की इस २०वीं शताब्दी में, जब कि जादू-टोने का अन्त हो चुका है, यह खिलवाड़ किसकी बदौलत हो रहा है? उत्तर है कि यह सब कवि की शब्द-सजावट का ही खेल

है। उसने पहले अपने मानस-पट पर कैसर का चित्र खीचा। फिर उसी को शब्द-रूपी रग से रगकर कर्ण-सुलभ कर दिया। कानो ने उसे श्रोता के मानस-पट तक पहुँचा दिया, और वहाँ चित्र तैयार होकर काम देने लगा। कवि का कार्य इतना ही था। उसने अपना कार्य पूरा कर दिया। श्रव्य काव्य बन गया। इस श्रव्य काव्य को आप अक्षरो का स्वरूप देकर नेत्रो के भोग-योग्य भी बना सकते है।

सगीतकार इस श्रव्य काव्य का टीकाकार है। यह टीकाकार आजकल पुस्तको पर टीका लिखने वालो के समान नही है। यह श्रव्य काव्य की टीका भी शब्दो ही मे करेगा। इन शब्दो को वह विचारो की सुविधा के अनुसार ही सजावेगा। पर एक बात वह और करेगा। वह शब्दो के प्राकृतिक गुण, स्वर का भी क्रम ठीक करेगा, और इस स्वर-क्रम से वह हमारी कर्णेद्रिय को काबू मे करके श्रव्य काव्य द्वारा मानस-पर खीचे जानेवाले चित्र को ऐसा प्रस्फुटित करेगा कि वह चित्र देखते ही बनआवेगा। वह हमारी 'हिए' की आँखो को मानस-पट पर खिचे हुए चित्र के ऊपर इशारे-मात्र से गड़ा देगा।

नेत्रेद्रिय के सहारे से चित्रकार ने चित्र दिखलाकर अपना काम पूरा किया। कवि ने वही कार्य कर्णेद्रिय का सहारा लेकर पूरा किया। सगीतकार ने उस पर और भी चोखा रग चढाया। कवि, चित्रकार और गायक महोदयो ने जब मिलकर कार्य किया, तो और भी सफलता हुई, और जो कमी उनमे अलग-अलग रह जाती थी, वह भी जाती रही। अब कैसर का जीवित चित्र मौजूद है। वह बाते करता है, इशारे करता है, और कैसर के सब कार्य करता है। किसी नाट्यशाला मे जाकर यह सब देख लीजिए। यही दृश्य काव्य है। चित्र, सगीत एव काव्य का सम्बन्ध कुछ इसी प्रकार का है। विषयांतर हो जाने के कारण इस पर अधिक नही लिखा जा सकता।

ऊपर के विवरण से प्रकट है कि काव्य के लिए शब्द बहुत ही आवश्यक हैं। शब्द नाना प्रकार के हैं, और भिन्न-भिन्न देश के लोगो ने इन सबको भिन्न-भिन्न रीति से अपने किसी विचार, भाव, वस्तु या किसी क्रिया आदि का बोध कराने के लिये चुन रक्खा है।

झाँझ-मृदग से भी शब्द निकलता है, और मनुष्य-पशु आदि जो कुछ बोलते हैं, वह भी शब्द ही है। मनुष्यो के शब्दो मे भी विभिन्नता है, सब देशों के मनुष्य एक ही प्रकार के शब्दों द्वारा अपने भाव प्रकट नही करते। भाषा शब्दो से बनी है। अतएव ससार में भाषाएं भी अनेक प्रकार की है, और उनके बोलने वाले केवल अपनी ही भाषा बिना सीखे समझ सकते हैं, दूसरो की नही। प्रत्येक भाषा-भाषी मनुष्य अपने-अपने भाषा--भडार के कुछ शब्दो को कर्कश तथा कुछ को मधुर समझते हैं।

'मधुर'-शब्द लाक्षणिक है। मधुरता-गुण की पहचान जिह्वा से होती है। शक्कर का एक कण जीभ पर पहुँचा नही कि उसने बतला दिया, यह मिठा है। पर शब्द तो चक्खा जा नही सकता, फिर उसकी मिठाई से क्या मतलब? यहाँ पर मधुरता-गुण का आरोप शब्द मे करने के कारण 'सारोपा लक्षणा' है। कहने का मतलब यह कि जिस प्रकार कोई वस्तु जीभ को एक विशेष आनन्द पहुँचाने के कारण मीठी कहलाती है, उसी प्रकार कोई ऐसा शब्द, जो कान मे पडने पर आनन्दप्रद होता है, 'मधुर शब्द' कहा जायगा।

शब्द-मधुरता का एकमात्र साक्षी कान है। कान के बिना शब्द-मधुरता का निर्णय हो ही नही सकता। अतएव कौन शब्द मधुर है और कौन नही, यह जानने के लिये हमे कानो की शरण लेनी चाहिए। ईश्वर का यह अपूर्व नियम है कि इस इन्द्रिय-ज्ञान और विवेचन मे उसने सब मनुष्यो मे एकता स्थापित कर रक्खी है। अपवादो की बात जाने दीजिए, तो यह मानना पडेगा कि मीठी वस्तु ससार के सभी मनुष्यो को अच्छी लगती है। उसी प्रकार सुगध-दुर्गन्ध आदि का हाल है। कानो से सुने जाने वाले शब्दो का भी यही हाल है। आफ्रिका के एक हब्शी को जिस प्रकार शहद मीठा लगेगा, उसी प्रकार आयर्लैंड के एक आइरिश को भी। ठीक यही दशा शब्दो की है। कैसा ही क्यो न हो, बालक का तोतला बोल मनुष्य-मात्र के कानो को भला लगता है। पुरुष की अपेक्षा स्त्री का स्वर विशेष रमणीय है। कोयल का शब्द क्यो अच्छा है, और कौवे का क्यो बुरा, इसका कारण तो कान ही बतला सकते हैं। जगल मे जो वायु पोले बाँसो मे भरकर अद्भुत शब्द उत्पन्न करती है, उसी वायु से प्रकपा-

यमान वृक्ष भी हहर-हहर शब्द करते हैं, फिर क्या कारण है, जो बाँसोवाला स्वर कानो को सुखद है, और दूसरे स्वर मे वह बात नही है ? हमे प्रकृति मे ऐसे ही नाना भाँति के शब्द मिला करते हैं। इन प्रकृतिवाले शब्दो मे से जो हमे मीठे लगते है, उनसे ही मिलते-जुलते शब्द भाषा के भी मधुर शब्द जान पडते हैं। बालक के मुँह से कठिन, मिले हुए शब्द आसानी से नही निकलते, और जिस प्रकार के शब्द उसके मुँह से निकलते है, वे बहुत ही प्यारे लगते है। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि प्राय: मीलित वर्णवाले शब्द कान को पसद नही आते। इसके विपरीत सानुस्वार, अमीलित वर्णवाले शब्दो से कर्णेन्द्रिय की तृप्ति सी हो जाया करती है।

जिस प्रकार बहुत से शब्द मधुर है, उसी प्रकार कुछ शब्द कर्कश भी हैं। इनको सुनने से कानो को एक प्रकार का क्लेश-सा होता है। जिस भाषा मे मधुर शब्द जितने ही अधिक होगे, वह भाषा उतनी ही मधुर कही जायगी। इसके विपरीतवाली कर्कश। परन्तु सदा अपनी ही भाषा बोलते रहने से, अभ्यास के कारण, उस भाषा का कर्कश शब्द भी कभी-कभी वैसा नही जान पडता और उसके प्रति अनुराग और हठ भी कभी-कभी इस प्रकार के कर्कशत्व के प्रकट कहे जाने मे बाधा डालता है। अतएव यदि भाषा की मधुरता या कर्कशता का निर्णय करना हो, तो वह भाषा किसी ऐसे व्यक्ति को सुनाई जानी चाहिए, जो उसे समझता न हो। वह पुरुष तुरत ही उचित बात कह देगा, क्योकि उसके कानो का पक्षपात से अभी तक बिलकुक लगाव नही होने पाया है।

मिष्टभाषी का लोक पर क्या प्रभाव पडता है, इस बात को भी यहाँ बता देना अनुचित न होगा। जब कोई हमी मे से मधुर स्वर मे बात करता है, तो हमको अपार आनन्द आता है। एक सुन्दर स्वरूपवती स्त्री मिष्ट भाषण द्वारा अपने प्रिय मति को और भी वश मे कर लेती है। मधुर स्वर न होना उसके लिये एक त्रुटि है। एक गुणी अनजान आदमी को कर्कश स्वर मे बोलते देखकर लोग पहले उसको उजड्ड समझने लगते हैं। ठीक इसके विपरीत एक निर्गुणी को भी मधुर स्वर मे भाषण करते देखकर एकाएक वे उसे तिरस्कृत

नही करते । सभा-समाज मे वक्ता अपने मधुर स्वर से श्रोताओ का मन कुछ समय के लिये अपनी मुट्ठी मे कर लेता है, और यदि वह वक्ता प० मदनमोहनजी मालवीय के समान पडित भी हुआ, तो फिर कहना ही क्या ? सोने मे सुगध-वाली कहावत चरितार्थ होने लगती है ।

घोर कलह के समय भी एक मधुरभाषी का वचन अग्नि पर पानी के छीटे का काम करता देखा गया है । निदान समाज पर मधुर भाषा का खूब प्रभाव है । लोगो ने तो इस प्रभाव को यहाँ तक माना है कि उसकी वशीकरण मन्त्र से तुलना की है । कोई कवि इसी अभिप्राय को लेकर कहता है—

कागा कासो लेत है ? कोयल काको देत ?
मीठे बचन सुनाय के जग बस मे कर लेत ।

यहाँ तक तो हमने मधुर शब्दो का भाषा एव समाज पर प्रभाव दिखलाया । पर हमारा मुख्य विषय तो इन मधुर शब्दो का कविता पर प्रभाव है । भाषा, समाज, चित्र, सगीत और कविता का बडा घनिष्ट सबध है, इस लिये इनके सबध की मोटी-मोटी बाते यहाँ बहुत थोडे मे कह दी गई । अब आगे हम इस बात पर विचार करते है कि भाव-प्रधान काव्य पर भी शब्दो का कुछ प्रभाव हो सकता है या नही । यदि हो सकता है, तो उसका प्रभाव तुलना से और विषयो की अपेक्षा कितने महत्त्व का है ।

यह बात ऊपर दिखलाई जा चुकी है कि कविता के माध्यम शब्द हैं । ये शाब्दिक प्रतिनिधि कवि के विचारो को ज्यो-का त्यो प्रकट करते है । लोक का नियम यह है कि प्रतिनिधि की योग्यता के अनुसार ही कार्य सहज हो जाता है । शब्दो की योग्यता मे विचार प्रकट करने की सामर्थ्य है । यह काम करने के लिये शब्द-समूह वाक्य का रूप पाता है । विचार प्रकट कर सकना कविता-वाक्य का प्रधान गुण होना चाहिए । उन्ही के अन्तर्गत शब्द-माधुर्य भी है । अतएव यह बात स्पष्ट है कि शब्द-माधुर्य विचार प्रकट कर सकने वाले गुण की सहायता करता है । एक उदाहरण हमारे इस कथन को विशेष रूप से स्पष्ट कर देगा ।

कहावत है, एक राजा के यहाँ एक कवि और एक व्याकरण के पडित

साथ-ही-साथ पहुँचे। विवाद इस बात पर होने लगा कि दोनो मे से कौन सुन्दरता-पूर्वक बात कर सकता है। राजा के महल के सामने एक सूखा वृक्ष लगा था। उसी को लक्ष्य करके उस पर एक-एक वाक्य बनाने के लिये उन्होंने कवि एव व्याकरण के पडित को आज्ञा दी। पडित ने कहा—'शुष्क वृक्ष तिष्ठत्यग्रे।' और कविजी के मुख से निकला—'नीरसतरुरिह विलसति पुरत।' दोनो के शब्द-प्रतिनिधि वही काम कर रहे हैं। दोनो ही वाक्यो मे अपेक्षित विचार प्रकट करने की सामर्थ भी है। फिर भी मिलान करने पर एक वाक्य दूसरे वाक्य से इस बात मे अधिक हो जाता है कि उसे कान अधिक पसद करते हैं। इस पसदगी का कारण खोजने के लिये दूर जाने की आवश्यकता नहीं। दूसरे वाक्य की शब्द-मधुरता की सिफारिश ही इस पसदगी का कारण है। व्याकरण के पडित का प्रत्येक शब्द मिला हुआ है। टवर्ग का प्रयोग एव सधि करने से वाक्य मे एक अद्भुत विकटता विराजमान है। इसके विपरीत दूसरे वाक्य मे एक भी मीलित शब्द नही है। टवर्ग-जैसे अक्षरो का भी अभाव है। दीर्घांत शब्दो के बचाने की भी चेष्टा की गई है। कानो को जो बात अप्रिय है, वह पहले मे और जो बात प्रिय है वह दूसरे मे मौजूद है। इस गुणाधिक्य के कारण कवि की जीत अवश्यभावी है। राजा ने भी अपने निर्णय मे कवि ही को जिताया था। निदान शब्द-माधुर्य का यह गुण स्पष्ट है।

अब इस बात पर भी विचार करना चाहिये कि ससार की जिन भाषाओ मे कविता होती है, उनमे भी यह गुण माना जाता है या नही। सस्कृत-साहित्य मे कविता का अग खूब भरपूर है। कविता समझाने वाले ग्रथ भी बहुत हैं। कहना नही होगा कि इन ग्रथो मे सर्वत्र ही माधुर्य-गुण का आदर है। सस्कृत के कवि अकेले पदो के लालित्य से भी विश्रुत हो गए है। दडी* कवि का नाम लेते ही लोग पहले उनके पद-लालित्य का स्मरण करते है। गीत-गोविंद के रचयिता जयदेवजी का भी यही हाल है। कालिदास की प्रसाद-पूर्ण मधुर

* उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्,
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः।

भाषा का सर्वत्र ही आदर है । संस्कृत के समान ही फ़ारसी मे भी शब्द-मधुरता पर जोर दिया गया है ।

अंग्रेजी मे भी Language of music का कविता पर खासा प्रभाव माना गया है* । भारतीय देशी भाषाओ में से उर्दू में शीरी कलाम कहने वाले की सर्वत्र प्रशसा है । बँगला मे यह गुण विशेषता से पाया जाता है । मराठी के प्रसिद्ध लेखक चिपलूणकर की सम्मति† भी हमारे इस कथन के पक्ष मे है । महामति पोप‡ अपने 'समालोचना'—शीर्षक निबध मे यही बात कहते हैं । ऐसी दशा मे यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि सदा से सब भाषाओ मे शब्द-मधुरता काव्य की सहायता करनेवाली मानी गई है । अतएव जिस भाषा में

---

* The ear indeed predominates over the eye, because it is more immediately affected and because the language of music blends more immediately with, and forms a more natural accompaniment to, the variable and indefinite associations of ideas conveyed by words.

(Hazlitt—*Lectures on the English poets.*)

† इसके सिवा जो और रह गई अर्थात् पद-लालित्य, मृदुता, मधुरता··· इत्यादि, सो सब प्रकार से गौण ही हैं । यह सब काव्य की शोभा निस्संदेह बढाती हैं, पर ऐसा भी नही कहा जा सकता कि काव्य की शोभा इन्हीं पर है । (निबधमालादर्श, पृष्ठ ३१ और ३२)

उक्त गुणो को अप्रधान कहने मे हमारा यह अभिप्राय कदापि नही है कि काव्य के लिए उनको आवश्यकता नही है ।···सत्काव्य से यदि उनका सयोग हो जाय, तो उसकी रमणीयता को वे कही बढा देते हैं ।······सर्व-साधारण के मनोरजनार्थ रत्न को जैसे कुदन मे खचित करना पडता है, वैसे ही काव्य को उक्त गुणो से अवश्य अलकृत करना चाहिए । (निबधमालादर्श, पृष्ठ ३५)

‡ सब देसन मै निज प्रभाव नित प्रकृति बगारत,
विश्व-विजेतनि को शब्दहि सों जय करि डारत ।
शब्द माधुरी-शक्ति प्रबल मन मानत सब नर,
जैसो ह्वै भवभूति गयो, तैसो पदमाकर ।

सहज माधुरी हो, वह कविता के लिये विशेष उपयुक्त होगी, यह बात भी निर्विवाद सिद्ध हो गई।

किसी भाषा मे कम या अधिक मधुरता तुलना से बतलाई जा सकती है। अपनी भाषा मे वही शब्द साधारण होने पर भी दूसरी भाषा मे और दृष्टि से देखा जा सकता है। अरबी के शब्द उर्दू मे व्यवहृत होते हैं। अपनी भाषा मे उनका प्रभाव चाहे जो हो, पर उर्दू मे वे दूसरी ही दृष्टि से देखे जायँगे। भारतवर्ष के जानवरो की पक्ति मे आस्ट्रेलिया का कगारू जीव कैसा लगेगा, यह तभी जान पडेगा, जब उनमे वह बिठला दिया जायगा। सस्कृत के शब्दो का सस्कृत मे व्यवहृत होना वैसी कोई असाधारण बात नही है, पर भिन्न देशी भाषाओ मे उनका प्रयोग और ही प्रकार से देखा जायगा। सस्कृत मे मीलित वर्णों का प्रचुरता से प्रयोग किया जाता है। प्राकृत मे यह बात बताने की चेष्टा की गई है। प्राकृत सस्कृत की अपेक्षा कर्ण-मधुर है। यद्यपि पाडित्य-प्रभाव से सस्कृत मे प्राकृत की अपेक्षा कविता विशेष हुई है, पर प्राकृत की कोमलता* उस समय भी स्वीकृत थी, जिस समय सस्कृत मे कविता होती थी। इसी प्रकार तुलना की भित्ति पर ही अँग्रेजी की अपेक्षा इटैलियन-भाषा रसीली और मधुर है। इस मधुरता को मानकर अँग्रेजी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने इटली में भ्रमण करके इसी माधुरी का आस्वादन किया था। इटैलियन-जैसी विदेशी भाषा को शब्द-माधुरी ने ही, निज देश-भाषा के कट्टर पक्षपाती मिल्टन को उस भाषा मे भी कविता करने पर बाध्य किया था।

इसी माधुरी का फारसी मे अनुभव करके उर्दू के अनेक कवियो ने फारसी मे भी कविता की है, और करते हैं। उत्तरीय भारत की देशी भाषाओ मे भी

श्रीजयदेव अजौं स्वच्छद ललित सो भावै,
औ, क्रम बिनहूँ पाठक को मति-पाठ पढावै।
(समालोचनादर्श, पृष्ठ १६ और १७)

* परुसा सक्क अबन्धा पाउ अबन्धो विहोई सुउमारो,
पुरुष महिलाणं जेन्ति अमिह अन्तरं तेत्तिय मिमाणम्।
(कर्पूर मजरी)

दो-एक ऐसी हैं, जिनकी मधुरता लोगो को हठात् उसमें कविता करने को विवश करती है ।

यहाँ तक जो बाते लिखी गई है, वे प्राय. प्रत्येक भाषा के शब्द-माधुर्य के विषय मे कही जा सकती हैं । अब यहाँ हिन्दी-कविता की भाषा मे जो मधुरता है, उस पर भी विचार किया जायगा ।

हिन्दी-कविता का आरम्भ जिस भाषा में हुआ, वह चन्द की कविता पढने से जान पडती है । पृथ्वीराज-रासो का अध्ययन हमे प्राकृत को हिन्दी से अलग होते दिखलाता है । इसके बाद ब्रजभाषा का प्रभाव बढा । प्राकृत की सुकुमारता और मधुरता ब्रजभाषा के बाँटे पड़ी थी, वरन् इसमे उसका विकास उससे भी बढकर हुआ । ऐसी भाषा कविता के सर्वथा उपयुक्त होती है, यह ऊपर प्रतिपादित हो चुका है । निदान हिन्दी-कविता का वैभव ब्रजभाषा द्वारा बढता ही गया । समय और आश्रयदाताओ का प्रभाव भी इस ब्रजभाषा-कविता का कारण माना जा सकता है । पर सबसे बडा आकर्षण भाषा की मधुरता का था, और है ।

"साँकरी गली मैं माय काँकरी गड़तु हैं"—वाली कथा भले ही झूठी हो, पर यह बात प्रत्यक्ष ही है कि फारसी के कवियो तक ने ब्रजभाषा को सराहा, और उसमे कविता करने मे अपना अहोभाग्य माना । ब्रजभाषा में मुसलमानो के कविता करने का क्या कारण था ? अवश्य ही भाषा-माधुर्य ने उन्हे भी ब्रजभाषा अपनाने पर विवश किया । सौ से ऊपर मुसलमान-कवियो ने इस भाषा मे कविता की है । सस्कृत के भी बडे-बडे पडितो ने सस्कृत तक का आश्रय छोड़ा, और हिन्दी मे, इसी गुण की बदौलत, कविता की । उधर बडे-बडे योरपवासियो ने भी इसी कारण ब्रजभाषा को माना । उर्दू और ब्रजभाषा मे से किसमे अधिक मधुरता है, इसका निर्णय भली-भाँति हो चुका है । नर्तकी के मुँह से बीसो उर्दू मे कही हुई चीजे सुनकर भी ब्रजभाषा मे कही हुई चीज को सुनने के लिये खास उर्दू-प्रेमी कितना आग्रह करते हैं, यह बात किसी से छिपी नही । श्रृङ्गार-लोलुप श्रोता ब्रजभाषा की कविता इस कारण नही सुनते हैं कि वह अश्लील होने के कारण उनको आनन्द देगी, वरन् इस कारण कि

उसमे सहज मिठास है, जिसको वे उर्दू की, शृङ्गार से सराबोर, कविता में ढूंढने पर भी नही पाते ।

एक उर्दू-कविता-प्रेमी महाशय से एक दिन हमसे बातचीत हो रही थी। यह महाशय हिन्दी बिल्कुल नही जानते हैं। जाति के यह भाटिए हैं। इनका मकान खास दिल्ली में है, पर मथुरा मे भाटियो का निवास होने से यह वहाँ भी जाया करते हैं। बातो-ही-बातो मे हमने इनसे व्रज की बोली के विषय मे पूछा। इसका जो कुछ उत्तर इन्होंने दिया, वह हम ज्यो-का-त्यो यहाँ दिये देते हैं—

"बिरज की बोली का मैं आपसे क्या हाल बतलाऊँ ? उसमे तो मुझे एक ऐसा रस मिलता है, जैसा और किसी भी जबान मे मिलना मुश्किल है। मथुरा मे तो खैर वह बात नही है, पर हाँ, दिहात मे नदगाँव, बरसाने वगैरह को जब हम लोग परकम्मा (परिक्रमा) में जाते हैं, तो वहाँ की लडकियो की घन्टों गुफ्तगू ही सुना करते हैं। निहायत ही मीठी जबान है।"

भारत मे सर्वत्र ब्रजभाषा मे कविता हुई है। महाकवि जयदेवजी की प्राजल भाषा का अनुकरण करनेवाले बगाली भाइयो की भाषा भी खूब मधुर है। यद्यपि किसी-किसी लेखक ने बेहद सस्कृति-शब्द ठूँस-ठूँस कर उसको कर्कश बना रक्खा है, तो भी ब्रजभाषा को छोड कर उत्तरीय भारत की ओर कोई भाषा मधुरता मे बँगला का सामना नही कर सकती।

मातृभाषा के जैसे प्रेमी इस समय बगाली हैं, वैसे भारत के अन्य कोई भी भाषाभाषी नही हैं। पर इन बगालियो को भी ब्रजभाषा की मधुरता माननी पड़ी है एक बार एक बगाली बाबू—जिन्होंने ब्रजभाषा की कविता कभी नही सुनी थी, हाँ खडी बोली की कविता से कुछ-कुछ परिचित थे—ब्रजभाषा की कविता सुनकर चकित रह गए। उन्होंने हठात् ही कहा—"भला, ऐसी भाषा मे आप लोगो ने कविता करना बन्द क्यो कर दिया ? यह भाषा तो बडी ही मधुर है। आजकल समाचार-पत्रो मे हम जिस भाषा मे कविता देखते हैं, वह तो ऐसी नही है।" बगालियो के ब्रजभाषा-माधुर्य के कायल होने का सबसे बडा

प्रमाण यही है कि बंगला-साहित्य के मुकुट श्रीमान् रवीद्रनाथ ठाकुर महोदय ने इस बीसवी शताब्दी तक मे ब्रजभाषा मे कविता करना अनुचित नही समझा। उन्होंने अनेक पद शुद्ध ब्रजभाषा में कहे हैं।

कुछ महानुभावो का कहना है कि ब्रजभाषा और खडी बोली की नीव साथ-ही साथ पडी थी, और शुरू में भी खडी बोली जनसाधारण की भाषा थी। इस बात को इसी तरह मान लेने से दो मतलब की बात सिद्ध हो जाती है— एक तो यह कि ब्रजभाषा बोलचाल की भाषा होने के कारण कविता की भाषा नही बनाई गई, वरन् अपने माधुर्यगुण के कारण; दूसरे, खड़ी बोली का प्रचार कविता में, बोलचाल की भाषा होने पर भी न हो सका। दूसरी बात बहुत ही आश्चर्यजनक है। भाषा के स्वाभाविक नियमो की दुहाई देनेवाले इसका कोई यथार्थ कारण नही समझा पाते हैं। पर हम तो डरते-डरते यही कहेगे कि यह ब्रजभाषा की प्रकृति-माधुरी का ही प्रभाव था कि वही कविता के योग्य समझी गई। आजकल ब्रजभाषा में कवि होते न देखकर डॉक्टर ग्रियर्सन हिंदी में कविता का होना स्वीकार नही करते। पं० सुधाकर द्विवेदी संस्कृति के प्रकांड पडित होते हुए भी ब्रजभाषा-कविता मे सस्कृत-कविता से अधिक आनन्द पाते थे। खडी बोली के आचार्य, प० श्रीधर पाठक भी ब्रजभाषा की माधुरी मानते हैं—

"ब्रजभाषा-सरीखी रसीली वाणी को कविता-क्षेत्र से बहिष्कृत करने का विचार केवल उन हृदयहीन अरसिको के ऊपर हृदय में उठाना सभव है, जो उस भाषा के स्वरूप-ज्ञान से शून्य और उसकी सुधा के अस्वादन से बिलकुल वचित है।.........क्या उसकी प्रकृत माधुरी और सहज मनोहरता नष्ट हो गई है ?"

यहाँ तक तो यह प्रतिपादित हो चुका कि शब्दो में मधुरता है, इस मधुरता के साक्षी कान हैं, जिस भाषा में अधिक मधुर शब्द हो, उसे मधुर भाषा कहना चाहिए, कविता के लिए मधुर शब्द आवश्यक हैं एवं ब्रजभाषा बहु-सम्मति से मधुर भाषा है, और माधुरी के वश उसने "सत्पद्य-पीयूष के अक्षय स्रोत

माथे किरीट, बडे दृग चंचल, मद हँसी, मुखचंद जुन्हाई;
जै जग-मंदिर-दीपक सुंदर, श्रीव्रज-दूलह, देव सहाई ।
देव

व्रज-नवतरुनि-कदंब-मुकुटमनि श्यामा आजु बनी,
तरल तिलक, ताटंक गंड पर, नासा जलज-मनी ।
यों राजत कवरी-गूँथित कच, कनक-कँज-बदनी,
चिकुर-चंद्रिकनि-बीच अरध बिधु मानहुँ ग्रसत फनी ।
(हित हरिवंश)

भाषा की इस मधुरता से यदि पाठक द्रवीभूत न हो तो इसे कवि का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए। कैसे छोटे-छोटे कोमल शब्दो की योजना है ? क्या मजाल कि कोई अक्षर व्यर्थ रक्खा गया हो ? मीलित शब्द कितने कम हैं ? सानुस्वार शब्द माधुर्य को कैसा बढा रहे हैं ? सस्कृत के क्लिष्ट शब्दो का अभाव कानो का कैसा उपकार कर रहा है ? खडी बोली की कविता के पक्षपातियो को इस बात की शिकायत रहती है कि उनकी कविता मे सस्कृत शब्द व्यवहृत होते ही कर्कश कहे जाने लगते हैं, हालाँकि जब तक खास सस्कृत-भाषा मे ही उनका व्यवहार होता है, तब तक उनमे कर्कशत्व आरोपित नही किया जाता। इसका निरूपण ऊपर कर दिया गया है। व्रजभाषा सस्कृत से मधुर है। उसमे आते ही तुलना-वश व्रजभाषा वाले उनको कर्कश जरूर कहेंगे। महाकवि केशवदास ने सस्कृत के शब्द बहुत व्यवहृत किये थे। उसमे जो शब्द मीलित थे, और तुलना के कानो को नागवार मालूम होते थे, वे व्रजभाषा के कवियो द्वारा श्रुति-कटु माने गये हैं। महाकवि श्रीपतिजी ने अपने 'काव्य-सरोज' ग्रन्थ मे खुले शब्दो मे केशवदास की भाषा मे श्रुति-कटु दोष बतालाया है। उसकी कविता प्रेतकाव्य के नाम से प्रसिद्ध है, यह सब लोग जानते है। ऐसी दशा में खडी बोलीवालो को यह नही समझना चाहिए कि कोई इसमे ईर्ष्यावश कर्कशत्व का दोष आरोपित करता है। जब हमारे समालोचको ने केशवदास तक की रियायत नही की, तो खड़ी बोलीवालो को ही शिकायत क्यो है ? आशा है, खडी बोलीवाले उपयोगी व्रजभाषा-माधुर्य का सन्निवेश करेंगे।

हमे सब प्रकार हिन्दी की उन्नति करनी है। उपयोगी विषयो से ही हिंदी का भडार भरना है। कविता मे भी अभी उन्नति की जरूरत है। हिन्दी कविता आजकल खडी बोली और ब्रजभाषा दोनो मे ही होती है। कविता का मुख्य गुण भाव है और सहायक गुण शब्द सौन्दर्य। इस शब्द-सौन्दर्य के अन्तर्गत ही शब्द-माधुर्य है। हमे चाहिए गुण की सहायता से भावपूर्ण कविता करे।

ब्रजभाषा में यह गुण सहज सुलभ है। अतएव उसमे कविता करनेवालो को भावोत्कृष्टता की ओर झुकना चाहिए। खडी बोली में सचमुच ही शब्दो-माधुर्य की कमी है। सो उक्त भाषा मे कविता करनेवालो को अपनी कविता मे यह शब्द-माधुरी लानी चाहिए।

शब्द-मधुरता हिंदी-कविता की बपौती है। इसके तिरस्कार से कोई लाभ नही होना है। कविता प्रेमियो को अपने इस सहज-गुप्त गुण को लातो मारकर दूर न कर देना चाहिए। इससे कविता का कोई विशेष कल्याण नही होगा। माधुर्य और कविता का कुछ सम्बन्ध नही है, यह समझना भारी भूल है। मधुरता कविता की प्रधान सहायिका होने के कारण सर्वदेव आदरणीय है। ईश्वर करे, हमारे पूर्व कवियो की यह थाती आजकल के सुयोग्य भाषाभिमानी कवियो द्वारा भली भाँति रक्षित रहे।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी
(रचना काल १९८० के आस-पास)

कथा-रहस्य

कहा जाता है कि सत्य का ही रूप स्पष्ट करने के लिए साहित्य की सृष्टि होती है। काव्य, ज्ञान, इतिहास तथा दर्शन-शास्त्र सत्य की ही खोज मे लगे रहते है। यह सच है कि भिन्न-भिन्न शास्त्र भिन्न-भिन्न पथो का अवलम्बन करते है। यही कारण है कि इन शास्त्रो में भिन्नता रहती है। काव्य में कभी-कभी इतिहास के विरुद्ध बाते पाई जाती हैं परन्तु इसका कारण उद्देश्य की भिन्नता है। ऐतिहासिक तथ्य की ओर कवि भले ही ध्यान न दे—क्योकि वह सर्व कालीन सत्य की खोज करता है—परन्तु वह अपने काव्य मे मिथ्या को आश्रय नही देगा। जो लोग उपन्यास तथा आख्यायिकाओ को कल्पना-प्रसूत समझ कर मिथ्या मान लेते हैं वे भूल मे है। उपन्यास मे कवि अवश्य एक कल्पित समाज का चित्र खीचता है परन्तु उस चित्र की सभी बाते ऐसी होती हैं कि ये मनुष्य-मात्र मे घट सकती हैं अतएव वह मिथ्या नही। सहस्र-रजनी-चरित्र के समान तूलत-बील किस्सो मे अलौकिक और अतिरञ्जित बातों का जमघट रहता है। परन्तु उनके भी भीतर हम मनुष्यत्व का सच्चा स्वरूप देख सकते है। विज्ञान इतिहास नही। विज्ञान मे मनुष्य-समाज का वर्णन नही रहता, उनमे प्राकृतिक अनन्त सत्यो का दिग्दर्शन कराया जाता है। अतएव यदि कोई विज्ञान मे ऐतिहासिक तत्वो का अभाव देख कर उन्हे मिथ्या कह बैठे तो उसकी बात उपेक्षणीय ही होगी। हमारे कहने का मतलब यह है कि यदि हम किसी कृति में सत्य का स्वरूप देखना चाहे तो हमे उस ग्रन्थ के ध्येय का अनुगमन करना चाहिए। हमें इसी दृष्टि से साहित्य की पर्यालोचना करनी चाहिए।

साहित्य के दो भेद किये जा सकते है, एक काव्य और दूसरा विज्ञान। काव्य मे कल्पना का साम्राज्य है और विज्ञान मे तर्क का। काव्य कभी तर्क का सामना नही कर सकता। उपन्यास और नाटक काव्य के अन्तर्गत है और इतिहास विज्ञान मे सम्मिलित किया जा सकता है। कव्य का कार्यक्षेत्र अन्तर्जगत् है और विज्ञान का उपादान वहिर्जगत् है। हम लोग प्राय: वहिर्जगत् की ओर ध्यान देते हैं। अधिकाश लोगो के लिए प्राय सत्य का रूप वाह्य-जगत् मे ही परिमित होता है। अन्तर्जगत् की घटनाओ मे वे सहसा सत्य का स्वरूप नही देख सकते। पत्थर के लगन से फल गिरना सत्य है। उसको सभी मान लेगे। परन्तु किसी अलक्षित कारण विशेष से मनुष्य के अध.पतन मे सत्य का दर्शन कर लेना सभी के लिए साध्य नही है। वैज्ञानिको के आविष्कारो की सत्यता मे किसी को सन्देह नही हो सकता। परन्तु जब कवि अपनी कल्पना द्वारा अन्तर्जगत् का गूढ रहस्य समझने लगता है तब कुछ लोग सदिग्ध-चित्त हो सकते हैं। कितने ही लोग ऐसे हैं जो कल्पना को सत्य का विरोध समझने हैं।

यह तो सभी को स्वीकार करना पडेगा कि कल्पना निराधार नही हो सकती। उसका आश्रय सत्य ही होना चाहिए। जिसका अस्तित्व नही, उसकी कल्पना कैसे की जा सकती है। हम कल्पना द्वारा देख सकते हैं कि मनुष्य आकाश मे उडता है। कहानियो में हमने मनुष्यो के उडने की बात सुनी भी है। इसमे न तो मनुष्य मिथ्या है, न आकाश असत्य है और न उडना शब्द ही गलत है। तो भी यह बात सच है कि मनुष्य आकाश मे नही उड सकता। ससार मे यह बात होती नही। तब इस कथन मे सत्य क्या है? यदि कोई जन्मान्ध से कहे कि सोने का रग हरा होता है तो वह इसे स्वीकार कर लेगा और यह मिथ्या बात स्वीकार कर लेने पर भी उसे अपने जीवन मे किसी प्रकार की अडचन न उठानी पडेगी। सोने का रग हरा मानकर भी वह सोने के मूल्य को कम नही करेगा। रङ्ग उसके लिए गौण है। सोना ही उसके लिए महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार कहानियो मे मनुष्यो के उडने की बात मिथ्या होने पर भी कहानी का महत्व नही घट जाता। चन्द्रकान्ता और चपला के अस्तित्व पर कोई विश्वास नही करेगा। तो भी हम उनके सुख-दु:ख की कथा मे इतने

व्यस्त रहते हैं कि हम उनके अस्तित्व की सत्यता की ओर ध्यान नही देते। कहानी मे पात्र नही, पात्र का अन्तर्जीवन सत्य है। यदि चन्द्रकान्ता के स्थान कमल-कुमारी रख दी जाय तो भी उससे कथा का रस नष्ट नही होगा।

सभी भाषाओ मे ऐतिहासिक नाटक और उपन्यास लिखे जाते हैं। ऐतिहासिक नाटक और उपन्यास की विशेषता यह है कि उनके पात्र ऐतिहासिक होते है, कल्पित नही। अब प्रश्न यह है कि ऐसे ग्रन्थो के लेखक अपने पात्रो के चरित्र-चित्रण मे इतिहास का अनुसरण करते हैं या नही? क्या उन्हे अधिकार है कि वे किसी ऐतिहासिक व्यक्ति को किसी अन्य रूप मे प्रदर्शित कर सके? कुछ समय पहले बङ्गाल के एक प्रसिद्ध चित्रकार ने लक्ष्मणसेन का पलायन नाम का एक चित्र बनाया था। कितने ही ऐतिहासिको का कहना था कि ऐसी घटना हुई नही। तब उसका चित्र क्यो बनाया गया? इससे मिथ्या को प्रश्रय मिलता है। बङ्किम बाबू के कुछ उपन्यासो मे इतिहास-विरुद्ध बाते पाई जाती हैं। द्विजेन्द्रलाल राय के नाटको मे महावत खाँ प्रतापसिंह के भाई माने गये हैं। हिन्दी मे एक बार इला नाम का एक उपन्यास प्रकाशित हुआ था। वह एक बँगला-उपन्यास का अनुवाद था। इतिहास-विरुद्ध होने के कारण शायद उस पर कुछ विवाद भी हुआ था और कदाचित् उस पुस्तक का प्रचार भी रोक दिया गया। बात यह थी कि वह अँगरेजी के एक प्रसिद्ध लेखक शेरीडन के एक नाटक का अनुवाद-मात्र था। बगाल के अनुवादक महोदय ने उसके पात्रो के नाम बदल कर ऐतिहासिक व्यक्तियो के नाम कर दिये। फल यह हुआ कि उसमे उदयपुर के महाराणा उदयसिंह आ गये और हेमू के साथ उनका घोर युद्ध हुआ। अब यह पूछा जा सकता है कि इन लेखको ने इतिहास-विरुद्ध बाते लिखी क्यो?

उपन्यास-लेखक का पहला कर्तव्य यह है वह अपनी कथा को सजीव बनावे। कथा की सजीवता का मतलब यही है कि पाठक अपनी कल्पना द्वारा उन पात्रो को प्रत्यक्ष देख ले। कथा मे मानवचरित्र का विकास प्रदर्शित किया जाता है, और वही मुख्य भी है, परन्तु उसके प्रभाव को बढाने के लिए उपन्यासकार ऐसे व्यक्तियो का नामोल्लेख कभी-कभी कर देते हैं जिनसे पाठकों

का चित्त कथा की ओर अधिक आकृष्ट हो जाता है। इतिहास भी कथा के प्रभाव को बढाने के लिए उपयुक्त होता है। द्विजेन्द्रलाल राय ने महावत खाँ को प्रतापसिह का भाई बना दिया है। इससे उनके मेवाड पतन के कथा-भाग का प्रभाव खूब बढ गया है, कथा सजीव हो गई है। हमे ऐसे स्थानो मे स्मरण रखना चाहिए कि ऐतिहासिक होते हुए भी ये पात्र कवि की सृष्टि ही हैं। अतएव हमे कथा-भाग पर खयाल रखकर उनके चरित्र के विकास की ओर ध्यान देना चाहिए। यदि कवि को उसमे असफलता हुई है तो हम उसकी आलोचना कर सकते है। अँगरेजी के एक समालोचक ने यह निर्णय किया है कि कवि, नाटककार अथवा चित्रकार को यह अधिकार है कि वे परिमित रूप मे इतिहास के विरुद्ध भी अपनी कथा की सृष्टि कर सकते है। परन्तु एकदम ऐसी झूठ बात भी न लिख देनी चाहिए जिससे कथा का प्रभाव ही नष्ट हो जाय।

रवीन्द्र बाबू ने एक स्थान मे लिखा है कि विधि-प्रणीत इतिहास और मनुष्य-रचित कहानी, इन्ही दोनो के मेल से तो मनुष्य का ससार बना है। मनुष्य के लिये सिर्फ अशोक और अकबर ही सत्य नही है। जो राजपुत्र मणि-माणिक के अनुसन्धान में सात समुद्र को पार कर चला गया था वह भी सत्य है। हनूमान ने गन्धमादन पहाड़ को उखाड लिया था, वह भी उनके लिए सत्य है। कौन अधिक प्रामाणिक है और कौन कम प्रामाणिक है, यह उनके लिए कसौटी नही है। कथा की दृष्टि से, मनुष्यत्व की दृष्टि से कौन सच्चा है, यही उनकी सत्यता की यथार्थ कसौटी है।

इतिहास मे पात्र लेखक की सृष्टि नहीं है। परन्तु उपन्यास में सभी पात्र लेखक की उपज हैं। इसका फल यह होता है कि इतिहास के एक ही पात्र को हम भिन्न-भिन्न उपन्यासों मे भिन्न-भिन्न रूपो में देखते हैं। यह सम्भव है कि किसी उपन्यास में कोई पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति से बहुत कुछ मिलता-जुलता हो, पर दोनो एक कभी नही हुए है। इसीलिए एक विद्वान ने कहा है कि श्रेष्ठ ऐतिहाहिक उपन्यासो से भी इतिहास का काम नही लिया जा सकता। घटनाओं का अनुकरण उनमें भले ही किया जाय, परन्तु वे ऐतिहासिक घटनाये नही हैं।

सच तो यह है ' कि उपन्यासो मे वाह्य ससार की घटनाये दृष्टिगोचर अवश्य होती हैं, परन्तु वे स्वय महत्वपूर्ण नही हैं। औपन्यासिक पात्रो को अपने जीवन की अभिव्यक्ति के लिए किसी देश और काल का आश्रय अवश्य लेना पडता है। परन्तु ज्योही उनकी जीवनलीला आरम्भ होती है त्यो ही हमारा ध्यान देश और काल से हट कर उन पात्रो पर हो केन्द्रीभूत हो जाता है। लेखक का कला-नैपुण्य तभी ज्ञात होता है जब हम उसकी कृति मे उन पात्रो का जीवन देख लेते हैं। ऐतिहासिक वर्णन से पूर्ण लम्बे-लम्बे परिच्छेदो से जो बात नही व्यक्त हो सकती वह उन दो चार वाक्यो से प्रकट हो जाती है जो औपन्यासिक पात्रो के मुंह से निकलते हैं।

भारतवर्ष के साहित्य-सेवियो मे औपन्यासिको की सख्या सबसे अधिक है। यह हाल प्राय: सभी देशो का है। उपन्यासो से सबसे बडा लाभ यह है कि उनसे घडी आध-घडी अच्छा मनोरंजन हो जाता है। इसीलिये उनका प्रचार भी अच्छा है। यदि उपन्यास-लेखक मे इतनी कुशलता हो कि वह अपने ग्रथ में चित्ताकर्षक घटनाओ का समावेश कर दे तो उसका परिश्रम कभी व्यर्थ नही होगा। आलोचक भले ही कहते रहे कि इसमे न तो मानव-चरित्र का विश्लेषण है और न समाज का यथार्थ चित्रण है। पर उसमे लोक-प्रियता तो होगी। कुछ विद्वानो की यह राय है कि उपन्यास शिक्षा-प्रद अवश्य हो, कम से कम उनमे सदाचार का सहार तो न किया जाय। पर कितने ही ऐसे लेखक हैं जिन्हे इस बात की जरा भी परवा नही रहती कि पाठको पर उनकी कथा का कैसा प्रभाव पडेगा। हिन्दी की बात जाने दीजिये। अँगरेजी मे तो ऐसे उपन्यासो की भरमार है। पर वहाँ ऐसे समालोचक भी हैं जो ऐसे औपन्यासिको की पीठ ठोकते हैं। एक समालोचक ने एक ऐसे ही लेखक की तारीफ की है। उक्त लेखक ने अपनी कृति में यह दिखलाया है कि एक स्त्री अपने पति को छोडकर एक दूसरे मनुष्य के साथ भाग गई। उसने स्त्री के कार्य का समर्थन किया है और उससे पूरी सहानुभूति प्रकट की है। समालोचक भी लेखक के पक्ष मे है। आपकी राय है कि उपन्यास-लेखक का काम सदाचार की शिक्षा देने का नही, किन्तु कथा कहने का है।

इसमे सन्देह नही कि उपन्यास का उद्देश्य मनोरजन है। परन्तु मनोविनोद के लिये अनाचार से पूर्ण उपन्यासो ही की जरूरत हो, यह कहना अनुचित है। कुछ लोग ऐसे अवश्य होते है जिन्हे ऐसी ही बाते पसन्द आती हैं जो समाज की दृष्टि मे हेय है। पर अधिकाश लोगो का ऐसी बातो से मनोविनोद होता है जो बिलकुल स्वच्छ रहती हैं। उपन्यासो मे जो यथार्थ चित्रण के पक्षपाती हैं वे केवल समाज के अन्धकारमय भाग को ही प्रकाशित करना चाहते हैं, यह ठीक नही है। ससार मे अनाचार ही का राज्य नही है, वह इतना उच्छृङ्खल नही हो गया है कि उसने धर्म को तिलाजलि दे दी हो। इसी प्रकार जो लोग आदर्श चरित्रो की सृष्टि करना चाहते है वे अपने ही आदर्श को सर्वोत्तम समझ कर जगत् का धर्म-गुरु बनने का दावा करते हैं। वे धर्मशास्त्र के आचार्य बन कर समाज का पथ निर्दिष्ट कर देना चाहते है।

आज-कल भारतवर्ष के अधिकाश औपन्यासिक अपने उपन्यासो मे समाज-सुधार का उपाय बतलाते हैं। जो विधवा-विवाह के पक्षपाती हैं वे अपने ग्रन्थ मे विधवा-विवाह की उपयुक्तता सिद्ध करते हैं। जो उसके विरोधी हैं वे उसका खण्डन कर पातिव्रत का माहात्म्य बतलाते हैं। पाश्चात्य शिक्षा के प्रेमी लकीर के फकीरो की दिल्लगी उडाते हैं और प्राचीनता के पक्षपाती नवीन सभ्यता की बुराई प्रदर्शित करते हैं। स्त्री-शिक्षा के प्रेमी सास-ननदो के अत्याचारो का वर्णन करते हैं और प्राचीनता के अनुगामी सुशिक्षिता बहू का भ्रष्ट चित्र खीचते हैं। कहानियो मे स्थानाभाव से समाज-सुधार की इतनी चर्चा नहीं रहती, तो भी लेखक अपने आदर्श को इतना ऊँचा रखते हैं कि पाठको का ध्यान उधर अवश्य आकृष्ट हो, लेखक अपने आदर्श को दूसरो पर क्यो लादना चाहते है? वे पाठको को इतना अवकाश क्यो नही देते कि पाठक स्वय उनके पात्रों की परीक्षा करे? कोई कहानियो को धर्मशास्त्र समझ कर तो पढ़ता नही। यदि किसी को 'कु' और 'सु' का निर्णय करना हो अथवा समाज-शास्त्र की बाते जाननी हो तो वह कहानी पढने क्यों बैठेगा, धर्म-शास्त्र की बाते जाननी हो तो वह कहानी पढने क्यो बैठेगा, धर्म-शास्त्र का अध्ययन न करेगा? लेखक समाज की दुर्बलता पर आघात अवश्य करे। पर उसे अपने पात्रो के व्यक्तित्व

विकास पर जोर देना चाहिये। मतलब यह कि मनुष्यो के अनुसार समाज की रचना होनी चाहिये। किसी कल्पित समाज के अनुसार मनुष्यो की सृष्टि नही होना चाहिए।

सदाचार का सम्बन्ध समाज से है। सत् और असत् की जो धारणा हम लोगो मे है उसको हमने समाज से ही प्राप्त किया है। यदि मनुष्य समाज से बिलकुल पृथक् रहे, यदि समाज से उसका कोई भी सम्बन्ध न हो, यदि वह एकाकी ही अपना जीवन व्यतीत करे तो उसके लिए सत् क्या होगा ? मनुष्य मे जिन नैतिक वृत्तियो का विकास होता है वे समाज की ही सम्पत्ति हैं। समाज के परिवर्तन के साथ उन नैतिक वृत्तियो मे भी परिवर्तन होता है। समाज मे परिवर्तन होता ही रहता है और उसके अनुसार मनुष्य की नैतिक वृत्तियाँ भी परिवर्तित होती रहती है। समाज चिरन्तन है, नैतिक वृत्तियाँ चिरन्तन हैं और परिवर्तन भी चिरन्तन है। न समाज का अन्त होगा और न सदाचार का, परन्तु यह बात भी निश्चित है कि सदाचार का कोई भी आदर्श स्थिर नही रहेगा। आदर्श के नाम से सदाचार का कोई भी साँचा नही बनाया जा सकता जो सदैव मनुष्यो को एक ही रूप मे ढाल सके। कहा जाता है कि धर्म का नाश कभी नही होता, सत्य की सदा विजय होती है। जो सत्य है वह देश और काल के अतीत है। अच्छा अच्छा ही रहेगा और बुरा कभी अच्छा नही हो सकता। इस कथन का तात्पर्य यही है कि मनुष्य मे धर्म का ज्ञान सदैव बना रहता है। असभ्य जातियाँ भी धर्म के ज्ञान से रहित नही होती। अच्छे और बुरे की भावना सभी मे रहती है। परन्तु जब यह भावना कार्य रूप मे प्रकट होती है तब उसके विषय मे यही बात नही कही जा सकती। जिस हिन्दू के लिए विधवा-विवाह अधार्मिक है वही यदि ईसाई हो जाय तो उसके लिए विधवा-विवाह अधार्मिक न रहेगा। यह सच है कि कोई धर्म को अधर्म नही कहेगा, परन्तु अवस्था बदलने पर वह किसी धार्मिक कृत्य को अधार्मिक कह सकता है। साहित्य मे जिस सदाचार का चित्र रहता है वह किसी विशेष काल के विशेष समाज का प्रतिबिम्ब होता है। यदि किसी कवि की कृति मे सदाचर का उत्कर्ष अकित हुआ है तो इसका मतलब यही है कि मनुष्य के आचरणो मे

वह उत्कर्ष उसी समय मे और उसी समाज मे माना जा सकता है जिसमे वह कवि स्वय हुआ है। दूसरे समय और दूसरे समाज मे वह उत्कर्ष जीवन मे प्रकट नही हो सकता। आचरण के उत्कर्ष को सभी लोग, चाहे वह किसी युग और किसी देश के हो, मानेगे। परन्तु स्वय उत्कृष्ट आचरण सदैव उत्कृष्ट आचरण नही माना जा सकता।

कुछ समालोचक स्वदेशी और विदेशी कवियो की तुलनात्मक समालोचना करते समय इस बात को भूल जाते हैं। बहुधा साम्प्रदायिक धर्म को ही वे सदाचार की एकमात्र कसौटी मान बैठते है। इसी कारण चरित्र का महात्म्य देखना उनके लिये असम्भव हो जाता है। कितने ही विदेशी समालोचक इसी सकुचित दृष्टि के कारण भारतीय चरित्र की गरिमा नही समझ सकते। हमे स्मरण है कि हिन्दी के एक विद्वान् ने किसी अँगरेजी समालोचक के विषय में यह लिखा था कि जिसके साहित्य मे अश्लीलता की हद नही वह यदि व्रजभाषा के साहित्य को अश्लील कहे तो आश्चर्य की बात है। परन्तु उसमे कोई आश्चर्य की बात नही। जब कोई किसी एक समाज के माप से दूसरे समाज को नापने की चेष्टा करेगा तब उसका परिणाम यही होगा।

अच्छा साहित्य मे अश्लीलता है क्या ? जो सदाचार का विरोधी है वह अश्लीलता नही कहा जा सकता। किन्तु जो सत् का सहारक है वही अश्लील है। अश्लीलता से मनुष्य असत् की ओर प्रेरित होता है। वह असत् को सत् नही समझता, किन्तु असत् को असत् समझ कर उसी की प्राप्ति की चेष्टा करता है। जिस साहित्य से ऐसी दुर्भावनाये उत्पन्न हो, जिनसे मनुष्य असत् की ओर खिच जाय उसी को हम अश्लील साहित्य कहेगे। जब कोई वैज्ञानिक मनुष्य के अङ्ग-अङ्ग की परीक्षा कर शरीर-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करता है तब क्या उसके हृदय में कोई दुर्भावना उत्तेजित होती है ? जो विद्यार्थी शरीर-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसकी इस क्रिया को देखते हैं उनके भी हृदय मे क्या उस समय कोई दुर्भावना उत्पन्न होती है ? इसी प्रकार जब कोई चित्रकार अपनी अन्तर्गत सौन्दर्य-भावना को एक रूप देता है तब क्या वह किसी दुर्भावना के वशीभूत होता है ? जब कोई कवि मनुष्य के अन्तस्तल की परीक्षा कर उसके

अन्धकारमय जीवन पर प्रकाश डालता है तब क्या वह मनुष्यो को असदाचार की शिक्षा देता है ? इसके विपरीत मनुष्य की पाशविक वासनाओ की तृप्ति के लिए जब कोई काम-शास्त्र की रचना करता है तब उसकी रचना अश्लील कही जा सकती है। जब कोई चित्रकार मनुष्य के चित्त को विकृत करने के लिए कोई चित्र अकित करता है तब उसके चित्र से अवश्य विकार उत्पन्न होता है। जब कोई कवि शृङ्गाररस की अभिव्यक्ति के लिए कामुको की क्रीडा का वर्णन करता है तब उसकी कृति अवश्य अश्लील हो जाती है। जिस साहित्य अथवा कला का उद्देश्य सत्य की परीक्षा या ज्ञान-वृद्धि है वही श्रेयस्कर है।

आज-कल सभी देशो मे उपन्यासो की खूब वृद्धि हो रही है। पुस्तक-रचना का मुख्य उद्देश्य तो यह है कि उसके द्वारा मनुष्यो की ज्ञान-वृद्धि हो और उनमे सद्भाव जागृत हो। परन्तु अधिकाश उपन्यास ऐसे होते हैं कि उनसे न तो ज्ञान की वृद्धि होती है और न सद्भाव का प्रचार ही होता है। यही नही, किन्तु उनसे असत् भावनाओ का प्रचार होता है। ऐसे ग्रन्थो का प्रभाव समाज के लिए बडा ही अनिष्टकर होता है। इसीलिए बडे बडे विद्वान् परीक्षक उनका प्रचार रोकने के लिए यत्नशील हैं। अधिकाश परीक्षको की यही धारणा है कि आधुनिक साहित्य मे कुरुचिपूर्ण ग्रन्थो ही की अधिक वृद्धि हो रही है।

साहित्य मे मलिन रचनाओ का प्रचार बन्द कर देना बडा कठिन काम है। अच्छी और बुरी किताबो का निर्णय करना भी सहज नही है। हालब्रुक जानसन नामक एक विद्वान् ने लिखा है कि पत्रो मे कुत्सित साहित्य के विषय मे चर्चा तो खूब की जाती है, परन्तु अभी तक थोडे ही लोग यह समझ सके हैं कि सचमुच साहित्य है क्या। अधिकाश लोगो की धारणा यह है कि कुत्सित साहित्य मे उन्ही ग्रन्थो का समावेश किया जाना चाहिए जिनमे प्रचलित धर्म, समाज अथवा सदाचार के विरुद्ध बाते लिखी जाती है। कुछ लोग यह समझते हैं कि वही बुरी किताबे हैं जिन्हे हम किसी नवयुवक अथवा नवयुवती के हाथ में देने से हिचकते है। हालब्रुक जानसन साहब का कथन है कि कुत्सित साहित्य के अन्तर्गत इन दोनो प्रकारो के ग्रन्थो की गणना नही हो सकती। आप की तो यह राय है कि सर्वसाधारण जिसे कुत्सित साहित्य समझते हैं वही यथार्थ में

पढने योग्य साहित्य है। आप कहते है कि बुरी किताब यथार्थ मे वे है जिनमे सत्य का सहार किया जाता है। जो कृत्य सचमुच कुत्सित हैं उन पर समाज की मुहर लगाकर भव्यरूप देने का प्रयत्न किया जाता है। जिनमे मिथ्या को इतना प्रश्रय मिलता है कि उन्हे लोग क्वचित् ही निन्दनीय समझते है। अधिकाश लोग जिन उपन्यासो को शिक्षादायक समझ कर पढते है उन्ही के द्वारा कुशिक्षा और मिथ्या सस्कारो का प्रचार होता है। सत्साहित्य वह है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी उन्नति के लिए चेष्टा करे। जो साहित्य सन्तोष की शिक्षा देती हैं वह यथार्थ मे अनिष्टकर है।

हिन्दी मे ही असत्य के प्रतिपादक 'शिक्षादायक' उपन्यासो का अभाव नही है। धर्म के पथ को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए यदि किसी समाज को मिथ्या आदर्शों से सन्तोष होता है तो वह यही हिन्दू समाज है। अपने समाज की दुरवस्था की ओर ध्यान न देकर और उसके प्रतिकार की चेष्टा न कर ये ग्रन्थकार भगवती सीता और सावित्री के पातिव्रत का स्मरण करा समाज के मिथ्या धार्मिक-सस्कार और अन्धविश्वास की पुष्टि करते हैं। समाज की मिथ्या धारणा के विरुद्ध भी कुछ कहना साहस का काम है। जो लोग समाज को उसका यथार्थ रूप दिखलाने की चेष्टा करते है उन्हे तिरस्कार और लाछना सहनी पडती है। बात यह है कि समाज साहित्य पर सदैव अपना प्रभुत्व रखना चाहता है। समाज का पथ सदैव निर्दिष्ट रहता है उच्छृङ्खलता उसे सह्य नही है। जो व्यक्ति उसकी मर्यादा को भग करने की चेष्टा करता है उसे समाज कठोर दण्ड देता है। साहित्य भी उसका प्रभुत्व अक्षुण्ण रखना चाहता है। यदि किसी ने समाज की नीति के विरुद्ध लिखा तो वह अधार्मिक समझा जाता है और उसे दबाने की पूरी चेष्टा की जाती है। तो भी साहित्य मे समाज के विरुद्ध चित्र स्थान पा लेते हैं। यह तभी होता है जब साहित्य मे व्यक्तित्व का विकास होने लगता है। अन्त मे उसी के द्वारा समाज की मर्यादा भङ्ग हो जाती है। जब हम साहित्य मे समाज के विरुद्ध चित्र देखते हैं तब हमे यही बतलाया जाता है कि यह चित्र अनिष्टकर है। परन्तु यथार्थ बात यह है कि वह चित्र समाज के भविष्य विप्लव की सूचना देता है। जिस शृङ्खला

के द्वारा समाज काल की गति को अवरुद्ध करना चाहता है उसकी भगुरता का आभास हमे उसी चित्र से मिलता है। समाज के पास धर्म का एक साँचा होता है। वह उसी जीवन को धार्मिक समझता है जो उस साँचे मे ढला रहता है। वह धर्म को जीवन से पृथक् रखता है। उसके अनुसार धर्म की उत्पत्ति जीवन से नही होती, परन्तु जीवन ही धर्म के आधार पर निर्मित होता है। धर्म के अन्तर्गत होने से पितृ-स्नेह धार्मिक है, मनुष्य-जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्ति होने से वह धार्मिक नही है। यदि समाज की आज्ञा हो तो व्यक्ति को महाराज दशरथ की तरह पुत्र-स्नेह भी छोड़ना पडता है। अपनी धर्म-पत्नी के अधिकारो की अवहेलना करना अधार्मिक है, परन्तु समाज की मर्यादा की रक्षा के लिए भगवान् रामचन्द्र जी को सीता जी का त्याग करना पड़ा। समाज का शासन अमान्य नही हो सकता। वही यथार्थ मे धर्म माना जाता है। भारतवर्ष मे धर्म ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य माना जाता है। परन्तु सच पूछो तो हिन्दू-धर्म कोई वस्तु नही है। हिन्दू समाज ही सब कुछ है। धर्म का जो स्वरूप समाज से निश्चित होता है, एक-मात्र वही धार्मिक समझा जाता है। जब कोई व्यक्ति समाज से अपना स्वत्व माँगता है तब समाज उसे अधार्मिक कह कर दबाना चाहता है। यही जब साहित्य मे प्रकट होता है तब समाज के पक्षपाती, आदर्श की दुहाई देकर उसको निर्मूल कर देना चाहते हैं। साहित्य मे आदर्श की जो कल्पना की गई है वह बिलकुल मिथ्या है। साहित्य मे आदर्श की सृष्टि हो नही सकती। किसी विशेष परिस्थिति मे यदि किसी ने किसी प्रकार जीवन को आदर्श माना हो तो क्या उसका वह परिमित जीवन अनन्त मानव-जीवन के लिए आदर्श हो सकता है ? जब लोग साहित्य मे किसी आदर्श की सृष्टि कर यह कहते हैं कि वस्तुत जीवन ऐसा होना चाहिए तब वे किसी विशेष परिस्थिति का वर्णन करते है, आदर्श का नही।

यह सच है कि साहित्य मे जिन चरित्रो ने अक्षय स्थान प्राप्त कर लिया है उनके प्रति मनुष्य की दृढ भक्ति है। हिन्दूसाहित्य मे राम, कृष्ण, अर्जुन, भीष्म, सीता, सावित्री आदि के चरित्र चिरस्मरणीय बने रहेगे। ये हम लोगो के दैनिक जीवन मे मिल गए हैं। यदि ये हिन्दू जाति की स्मृति से लुप्त कर दिये

जायँ तो हिन्दू-धर्म और भारतीय सभ्यता का विशाल भवन ढह जाय। वेद और शास्त्रो की चर्चा मे अल्पसख्यक विद्वान् ही निरत रहते हैं। अधिकाश हिन्दुओ का धर्म ज्ञान राम और कृष्ण की कथा ही तक है। कुछ लोग कदाचित् यह कहे कि उपासना के केन्द्र होने के कारण इन्ही चरित्रो पर हिन्दू धर्म स्थापित है। परन्तु उपासना का कारण है इनके जीवन की सम्पूर्णता। उनकी ईश्वरता ध्यान-गम्य है, परन्तु उनकी मनुष्य-लीला हृदगम्य है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को अपना जो रूप दिखलाया वह योगियो के लिये है। सर्व-साधारण तो उनके मनुष्यरूप पर ही मुग्ध है। अतएव साहित्य का एक मात्र ध्येय मनुष्य जीवन की सम्पूर्णता है। और वही साहित्य श्रेयस्कर है जिसमे मनुष्य जीवन की पूर्णता पर विचार किया गया है। हिन्दी के सामाजिक उपन्यासो मे शायद दो ही चार ऐसे हो जो सत्य की कसौटी पर अच्छी तरह कसे जा सकते हैं।

उपन्यासो मे सत्य का प्रायः बहिष्कार किया जाता है। औपन्यासिक घटनाएँ कल्पित होती हैं। परन्तु ये प्राकृतिक नियमो का व्यतिक्रमण नही कर जाती। हिन्दी के सामाजिक उपन्यासो मे मनुष्य के मनुष्यत्व का विकास प्रदर्शित नही किया जाता। उपन्यास-लेखक अपनी इच्छा के अनुकूल ही अपने पात्रो को कठपुतलियो के समान नचाया करते हैं और वे अपने पाठको से यही आशा रखते हैं कि पाठक चुपचाप उनके पात्रो का नृत्य-कौशल देखा करे। इससे उपन्यास मे मिथ्या को प्रश्रय मिलता है। हिन्दी के उपन्यासो के पात्र, सह्य और असह्य सभी प्रकार के कष्ट सह सकते हैं। ससार मे सज्जनो पर विधाता का सदैव अनुकूल दृष्टि नही रहती। पर इन पात्रो के भाग्य विधाता उनकी स्थिति को अनुकूल ही कर देते हैं। यदि कोई उपन्यास दु.खान्त हुआ तो उसका कारण स्थिति की प्रतिकूलता नही, परन्तु पात्रो का दुर्भाग्य समझना चाहिए। स्वर्गीय बाबू देवकीनन्दन के समान कितने ही लोग अपने ही उपन्यास को सुखान्त और दुखान्त दोनो कर डालते हैं। आपका कहना भी था कि जो दु.खात के प्रेमी हैं वे ग्रथ के अन्तिम दो पृष्ठ फाड डाले, सुखान्त दुखान्त हो जायगा। विधाता के विधान का फैसला दो ही पृष्ठो पर कर दिया गया। हिन्दू-मात्र पूर्व जन्म पर विश्वास करते हैं। उनका खयाल है कि विधाता निरकुश नही है।

मनुष्य अपने ही कृत्यो का फल भोगता है । पर हिन्दी के उपन्यासकार इसके कायल नही । एक ही कृत्य के लिये ये चाहे तो किसी को स्वर्ग दे सकते है या नरक मे ढकेल सकते है । मानव-स्वभाव की गरिमा का जरा भी ख्याल न रख किसी के चरित्र को कालुष्य-पूर्ण बता कर उस पर पूरा अत्याचार किया जाता है । चरित्र का उत्थान और पतन बिलकुल साधारण बात है । यह हिन्दी के उपन्यासो का मिथ्या अश है ।

सभी देशो के साहित्य मे जातीय गौरव की रक्षा की जाती है । सभी मनुष्यो को अपनी जाति का अभिमान होता है । यही कारण है कि अपने जातीय गौरव की रक्षा के लिए, समय आने पर, साधारण मनुष्य भी आत्म-त्याग कर सकता है । कभी-कभी लोग जातीय अभिमान से प्रेरित होकर प्राण तक देना स्वीकार करते है पर वे अपनी जाति को किस प्रकार अपमानित होते नही देख सकते । अँग्रेजी के एक कवि ने एक छोटी सी कहानी लिखी है । उसमे एक अँगरेजी सैनिक का जातीय अभिमान प्रदर्शित हुआ है । उस कहानी के विषय मे कहा गया है कि वह एक सच्ची घटना के आधार पर लिखी गई है । कहानी का साराश यह है कि एक बार चीन मे एक अँगरेज तीन सिक्खो के साथ कही गुल-गपाडा करता हुआ पकडा गया । जब वे चारो किसी चीनी अफसर के सामने लाये गए तब उस अफसर ने कहा—तुम लोग मुझे झुक कर सलाम करो, नही तो मार डाले जाओगे । तीनो सिक्खो ने सलाम कर अपनी प्राण-रक्षा की । पर उस अँगरेज ने स्वीकार नही किया । अन्त मे वह मार डाला गया । इसी घटना को लेकर अँगरेज कवि ने अँगरेजो के जातीय अभिमान की प्रशसा की है और काले सिक्खो की कायरता की ओर इशारा किया है । सिक्ख-जाति के इतिहास मे ऐसी घटनाओ का अभाव नही है जिनमे सिक्खो ने सहर्ष प्राण त्याग दिये है । अतएव यह नही कहा जा सकता कि सिक्ख जाति प्राण देना नही जानती । पर जिनका हृदय क्षुद्र होता है वे जातीय अभिमान के कारण दूसरो मे गुण देख ही नही सकते । ऐसे लोगो की रचनाओ मे विदेशी जातियो का घृणास्पद चित्र अकित रहता है । साहित्य मे धार्मिक असहिष्णुता की भी अभिव्यक्ति होती है । शेक्सपियर के समान श्रेष्ठकवि भी इस दोष से

बचे नही हैं। शायलाक को उन्होने इतना लोभी बनाया है कि वह अपनी एक-मात्र कन्या का मृत शरीर देखना चाहता था जिससे वह अपना रुपया पा सके। सर वाल्टर स्काट ने अपने आइवनहो नामक उपन्यास मे थी एक यहूदी का ऐसा ही चित्र अङ्कित किया है। यद्यपि उसमे धन-लिप्सा अत्यधिक थी तो भी वह पितृ स्नेह से शून्य नही था। अँगरेजी साहित्य में भारतीयो के प्रति घृणा-व्यजक भाव विद्यमान हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे भी विदेशियो के प्रति घृणा प्रदर्शित की जाती है। यहाँ हम उसी की ओर अपने पाठक का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं।

हिन्दी के उपन्यासो में अकबर की चरित्र-हीनता की कथाएँ मिलती हैं। इसका सबसे बडा कारण टाड साहब का राजस्थान का इतिहास है। परन्तु सिर्फ अकबर ही चरित्र-हीन दर्शित नही किये गये हैं। औरङ्गजेब भी कामुक और विलासी बनाये गये हैं। जिस प्रकार क्रोध के लिये दुर्वासा ऋषि प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार अपनी क्रूरता के लिये औरङ्गजेब। ये तो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं; कुछ समय पहले जो सामाजिक उपन्यास निकले हैं उसमे शायद ही कोई सच्चरित्र मुसलमान हो। हिन्दू-ललनाओ की सतीत्व-रक्षा के लिए हिन्दी लेखक जितने सावधान थे उतने सावधान मुसलमान स्त्रियो के विषय में नही थे। आज कल जो छोटी-छोटी कहानियाँ प्रकाशित होती हैं उनमे अवश्य सच्चरित्र मुसलमानो का अभाव नही है। परन्तु हिन्दी मे कदाचित् अभी तक एक भी ऐसा उपन्यास प्रकाशित नही हुआ जिसमे किसी अँगरेज का आदर्श चरित्र दिखलाया गया हो। यदि कभी किसी लेखक की इच्छा किसी अँगरेजी पढे-लिखे भारतीय को चरित्र-भ्रष्ट करने की हुई तो वह एक अँगरेज महिला की कल्पना कर लेता है। धार्मिक विद्वेष के उदाहरण हिन्दी साहित्य मे कम नही है। इसके सिवा अशिक्षा अथवा कुशिक्षा के परिणाम भी बुरी तरह से दिखाए जाते है। ये सभी उपन्यास शिक्षादायक कहे जाते है और इनके प्रशसको का भी अभाव नही है। इनमे से कोई-कोई अपनी प्रशसा मे देश और काल की दुहाई देते है। परन्तु सच पूछो तो इन रचनाओ से लेखको की विकारग्रस्त कल्पना का आभास मिलता है। इनसे शिक्षा तो मिलती नही, मिथ्या ज्ञान का प्रचार होता है। इससे

केवल द्वेषभाव की वृद्धि होती है। उपन्यास चाहे ऐतिहासिक हो अथवा सामाजिक, पौराणिक हो अथवा राजनैतिक, उनमे कल्पना की प्रधानता रहती है। ऐतिहासिक अथवा पौराणिक व्यक्ति लेखक की कल्पना मे अपना यथार्थ स्वरूप नही रख सकते है। अतएव यदि उनके चरित्र चित्रण मे वही दोष है तो वह लेखक की कल्पना का दोष है। यदि लेखक को अपने उत्तरदायित्व का पूरा ज्ञान है तो वह अपने उपन्यास के प्रत्येक पात्र की जीवन की समीक्षा करेगा। उसे स्मरण रखना चाहिये कि उसके पात्र मनुष्य हैं। वे न तो देवता हैं और न पिशाच। यदि उनका चरित्र देव-तुल्य अथवा पिशाच-तुल्य है तो उसे बतलाना होगा कि वह किस स्थिति को अतिक्रमण कर उस अवस्था को पहुँचा है। लेखक को स्मरण रखना चाहिये कि गोपाल अथवा हेनरी सिर्फ हिन्दू या अँग्रेज नही है। वे मनुष्य भी है। शायलाक की तरह वे भी कह सकते है—हमे काटोगे तो हमे भी दुख होगा, हँसाओगे तो हम भी हँसेगे, हम भी इच्छा करते हैं, उठते हैं, गिरते हैं। हम मे भी गुण और अवगुण है, यदि हम बुरे हैं तो किसी कारण से बुरे हैं। हे लेखक, तुम हमारे भाग्य-विधाता बने हो, पर याद रक्खो कि यदि तुम हमारी स्थिति मे रहो तो तुम भी बुरे हो सकते हो। अतएव तुम्हे हमारे साथ सहानुभूति रखनी चाहिए। हम जानना चाहते है कि हिन्दी के कितने औपन्यासिक अपने कल्पित पात्रो को मनुष्य समझते है, उन्हे सिर्फ कल्पना की सृष्टि नही समझते।

हिन्दी के नाटको के विषय मे एक लेखक ने एक प्रश्न उठाया था। वह था नाटकीय पात्रो की भाषा। हिन्दी नाटको के विदेशी पात्र एक अद्भुत भाषा मे बातचीत करते है। कदाचित् लेखक अपने नाटको मे स्वाभाविकता लाने के लिए ऐसा करते हो। यदि स्वाभाविकता का मतलब यह है कि पात्र जो भाषा ससार मे बोलते थे इसी भाषा का उपयोग रङ्गभूमि मे करे तो लेखक राम, सीता, राधा और कृष्ण से हिन्दी भाषा मे बातचीत क्यो कराते है? हम नाटको मे कितनी बातो को लेखक के कथनमात्र पर मान लेते हैं, तब हम यह भी विश्वास कर सकते हैं कि एक बगाली शुद्ध हिन्दी बोल सकता है। तब ऊटपटाग भाषा मे किसी को बात चीत कराने से क्या लाभ? क्या इसी से हास्य-रस का स्रोत

फूट पडता है ? हमारी समझ मे तो इससे केवल पात्र का चरित्र उपहास-जनक हो जाता है। यदि अँगरेजी साहित्य मे बाबू-इग्लिश को स्थान मिलता है तो वह केवल बाबुओ की दिल्लगी उडाने के लिए। क्या इससे अनुदारता सूचित नही होती ?

साहित्य मे जातीय अभिमान को जागृत रखने के लिए हम अपने जातीय गौरव का यशोगान कर सकते है। परन्तु हमे मिथ्या गर्व नही करना चाहिए। हमे हिन्दू ललनाओ के सतीत्व का गर्व है। परन्तु सामाजिक कुसस्कार के कारण यदि उनके चरित्र मे कुछ दोष आ गये है तो उनकी ओर से हमे अपनी आँख नही बन्द कर लेनी चाहिए। हमे अपने गुण दोषो की परीक्षा करनी चाहिए। इसके साथ ही हमें विदेशी के भी गुण-दोष पर दृष्टि डालनी चाहिए। एक विकृत समाज की कल्पना कर हमे अपने हृदय को दूषित नही करना चाहिए।

आज कल का उपन्यासो का क्षेत्र खूब व्यापक हो गया है। सभी तरह की पुस्तके प्रकाशित होती हैं। उनमे कुछ अच्छी होती है तो अधिकाश बुरी होती हैं। परन्तु बुरे होने से उपन्यासो का प्रचार कम नही होता। देखा गया है अधिकाश पाठको का मनोविनोद श्रेष्ठ साहित्य से नही होता। कभी-कभी चरित्र को भ्रष्ट करनेवाली अनाचार से पूर्ण किताबो की खूब खपत होती है। अँगरेजी साहित्य मे आज-कल बर्नार्डशा का बडा नाम है। नाटक-रचना मे आप बडे पटु समझे जाते हैं। आपने अच्छी और बुरी पुस्तको के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट किये हैं। आपके विचारो मे मौलिकता है, अतएव उनका मर्म नीचे दिया जाता है। हम लोग उपन्यासो मे भयानक हत्यारो की भीषण लीलाये देखते है। परन्तु उससे हम स्वय घातक नही हो जाते। यही नही, किन्तु हमारी जिघासा की प्रवृत्ति एक कल्पित राज्य मे जाकर आप से आप नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार हम काव्यो मे श्रेष्ठ नर-नारियो का चरित्र पढते हैं, उनके सद्गुणो का परिचय पाते हैं। पर वे सद्गुण की कल्पना के ही क्षेत्र मे अवरुद्ध हो जाते हैं। हमारी सत्प्रवृत्तियाँ उत्तेजित तो अवश्य होती है पर वे कल्पित राज्य मे ही विलीन हो जाती है। अब विचारणीय यह है कि वाचनालयो मे कैसी किताबे रक्खी जायँ। हमारी समझ मे तो वहाँ ऐसी ही

किताबे रक्खी जायँ जिनमे दुराचारियो का वर्णन रहे। जासूसी उपन्यासो मे चोरो और बदमाशो का खूब हाल रहता है। अतएव पुस्तकालयो मे उन्ही की भरमार रहनी चाहिए। ऐसी किताबो को पढते-पढते जब पाठको को अनाचार से विरक्ति हो जायगी तब वे स्वय आकर कहेगे—भाई, अब कोई ऐसी किताब दो जिसमे आदर्श चरित्र अङ्कित किया गया हो। किसी साधु पुरुप अथवा महात्मा का जीवन-चरित हो। तब पुस्तकालय के अध्यक्ष को उत्तर देना चाहिए—सद्गुणो के निदर्शन के लिए समार ही प्रधान-कार्य क्षेत्र है। आप स्वय जाकर अच्छे-अच्छे काम कीजिये। यदि कभी आप मे दुष्प्रवृत्तियाँ जागृत हो तो आकर किताबे पढिए। मैं आप को फिर ऐसी किताबे दूँगा जिनसे आपकी दुष्प्रवृत्ति खूब उत्तेजित होगी और अन्त मे आप से आप नष्ट हो जायगी। बर्नार्डशा के कथन का यही सार है जो लोग साहित्य मे अनाचार के द्वार अवरुद्ध करना चाहते है उन्हे बर्नार्डशा की इस सम्मति पर विचार करना चाहिए।

हिन्दी मे साधारणतः जो उपन्यास प्रकाशित होते है उनमे विषय की महत्ता पर विशेष ध्यान दिया गया है। विषय महत्त्वपूर्ण होने से ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण हो, यह कोई बात नही है। परन्तु इसमे सन्देह नही कि इससे लेखको की महत्वाकाक्षा सूचित होती है। हिन्दी के उपन्यासो, नाटको और आख्यायिकाओ तक का विषय-क्षेत्र इतना विस्तृत होता है कि उसमे एक बार निपुण ग्रन्थकारो की बुद्धि भी चक्कर खा जाय। आदर्श ऊँचा रखना बुरा नही, परन्तु उस आदर्श को मनुष्य-जोवन मे दिखलाने के लिए अनुभूति चाहिए। जिसने अभी भारतीय राजनीति के साधारण तत्त्वो को समझा नही है वह यदि कल्पना के बल से उपन्यास मे राजनैतिक जीवन का रहस्योद्घाटन करना चाहे तो इसे उसका साहस कहना चाहिये। यही हाल सामयिक तथा धार्मिक समस्याओ का भी है। किसी विधवा को आजन्म ब्रह्मचारिणी अङ्कित कर देने से भारतीय समाज की दुर्दशा दूर नही हो जाती और न शिक्षित रमणी का विकृत चित्र खीच देने से स्त्रियो की समस्या हल हो जाती है। ससर मे कर्मयोग का जीवित चित्र खीच देना साधारण काम नही हैं। बुद्धदेव अथवा

प्रताप को नायक बना देने से ही नाटक या उपन्यास श्रेष्ठ नही हो जाता। एक साधारण मनुष्य के जीवन मे जो हलचल होती रहती है पहले उसी का तो चित्र खीचा जाय, फिर किसी उच्च जीवन का विकास दिखलाया जाय, जो लोग बुद्धदेव के जीवन का रहस्य बतलाना चाहते हैं वे पहले अपने जीवन की परीक्षा कर ले। जब तक वे अपने जीवन मे बुद्धदेव की महत्ता का अनुभव नही कर लेगे तब तक वे केवल कल्पना के सहारे बुद्धदेव के पास नही पहुँच सकते। रामचरितमानस लिखने के लिए गोस्वामी जी की जरूरत होती है। रामचरित-मानस गोस्वामी जी की कल्पना का फल नही है। वह उनकी साधना का, अनुभूति का, फल है। हिन्दी के नये ग्रन्थो मे दो चार को छोड कर सभी मे इसी अनुभूति का अभाव है। कुछ लोग असाधारणता को ही उत्तमता समझते हैं। इसी के फेर मे पड कर लोग मनुष्य को न देखकर उनका स्वाँग देख रहे हैं।

उपन्यास मे भी भावुकता और राष्ट्रीयता की ऐसी लहर आई है कि जिसे देखो वही अपने दिल का फफोला फोड रहा है। सीधी, सच्ची बात को लोग उपन्यास का विषय नही समझते मानो विकार-ग्रस्त मनुष्य के प्रलाप मे ही कला का चमत्कार है।

साहित्य का उद्देश ज्ञान-प्रचार करना है, कम से कम सत्-साहित्य का उद्देश है। साहित्य से मनुष्य का जो मनोरजन होता है उसका कारण है उसकी स्वाभाविक ज्ञानलिप्सा। यदि उसमे ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा बलवती न होती तो साहित्य के किसी भी अङ्ग से उसकी मनस्तुष्टि न होती। मनुष्य, मनुष्य-समाज को जानना चाहता है। इसी से इतिहास, नृतत्वशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति-विज्ञान आदि शास्त्रो की सृष्टि होती है। वह मनुष्य के अन्तस्तल मे प्रवेश करके उसके अन्तर्निहित भावो को जानना चाहता है। इसी से काव्य का निर्माण होता है। वह प्रकृति के रहस्यो का उद्घाटन करना चाहता है। इसी से विज्ञान की रचना होती है। जब वह वाह्य प्रकृति के साथ अपना सम्बन्ध ढूंढने लगता है, तब समाज-शास्त्र की आवश्यकता होती है। मतलब यह कि समस्त साहित्य के

मूल मे ज्ञान है। साहित्य के जिस अश से हम ज्ञान का जितना ही अधिक अश स्वायत्त कर लेते है वह हमारे लिये उतना ही अधिक उपादेय है ज्ञान की प्राप्ति मे ही साहित्य की उपादेयता है।

कथा, उपन्यास और आख्यायिका, ये काव्य के अन्तर्गत हैं। कुछ लोगो की धारणा है कि इनका उद्देश्य केवल मनोरजन है। इसमे सन्देह नहीं कि उपन्यासो से जितने अधिक लोगो का मनोरजन होता है उतना अन्य किसी शास्त्र से नही होता। परन्तु इससे इनका महत्त्व घटता नही है। उपन्यास अथवा कथाओ से मनुष्य का मनोरजन इसीलिए होता है, क्योकि उनसे वह अपना मनुष्यत्व पहचान लेता है। इतिहास राष्ट्र से हमे परिचित कराता है और उपन्यास व्यक्ति से। यही दोनो मे भेद है। राष्ट्र अथवा समाज का ज्ञान हमारे लिए जितना हितकर है उससे कम व्यक्ति का ज्ञान नहीं है। एक मे हम राष्ट्र का उत्थान-पतन देखते हैं और दूसरे मे व्यक्ति का। जिस कथा से हमे मनुष्यत्व का जितना ही अधिक ज्ञान होता है वह उतना ही अच्छा समझा जाता है।

अब विचारणीय यह है कि साहित्य मे उपन्यासो की क्या मर्यादा है। यह तो स्पष्ट है कि उसका उद्देश्य ही मानवीय स्वभाव की ज्ञान-प्राप्ति है। परन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि ज्ञान की सीमा यही तक है, इससे अधिक हम नही जा सकते? उदाहरण के लिए, क्या कथाओ के विषय मे यह कहा जा सकता है कि उनमे हमे श्रेष्ठ पुरुषो के ही जीवन की महत्ता देखनी चाहिए। क्षुद्रो की क्षुद्रता देखने से लाभ क्या? प्राचीन काल की कथाओ मे राजा और रानी की ही कहानियाँ वर्णित हुई है। रामायण, महाभारत, रघुवश आदि सभी काव्यो के नायक महापुरुष है। चरित्रहीन, नीच, दुष्ट जनो को अपनी कृति द्वारा अक्षय करने की चेष्टा किसी ने नही की है। तो क्या ऐसे मनुष्यो का जीवन अवर्णनीय है? निवेदन है कि आँख मूँद लेने से हमारे लिए कोई नही रह जाता। परन्तु ससार उठ नही जाता वह? जहाँ का तहाँ बना रहता है। इसीलिए जो आँख मूँद कर चलने की चेष्टा करते है वे ठोकर भी खाते हैं। अतएव नीति की दृष्टि से तो यह आवश्यक है कि मनुष्य भलाई और बुराई दोनो से परिचित हो जाय। परन्तु सबसे बडी बात यह है कि हमे मनुष्य-

स्वभाव का पूरा ज्ञान होना चाहिए । एक चरित्र-हीन के जीवन मे मनुष्यत्व का विकास हुआ है वह हमारे लिए उपेक्षणीय नही है । ऐसे ग्रन्थो के पाठ से चित्त कलुषित नही होता । यथार्थ ज्ञान से सहानुभूति उत्पन्न होती है । जिन लेखको में यह शक्ति नही है कि वे मनुष्य के अन्तस्तल तक पहुँच सके उन्ही की रचनाओ मे मनुष्यत्व का विकृत रूप प्रदर्शित होता है, जिससे चित्त विकृत होता है । मनुष्य के लिए अध.पतन अस्वाभाविक नही है । परन्तु इस पतनावस्था मे जो प्रवृत्तियाँ काम करती हैं उन्ही मे यह शक्ति भी रहती है कि वे मनुष्य को उच्चतम अवस्था मे ले आवे । अतएव उनका ज्ञान हमारे लिए अनिष्टकर नही है ।

पीताम्बर-दत्त बड़थ्वाल
(१६५८-२००१)

आचार्य कवि केशवदास

निर्गुण भक्ति ने विदेशी अत्याचार के नीचे पिसती हुई जनता के हृदय की नैराश्यजन्य शुष्कता को कविता के क्रोड मे सचित कर दिया था। कबीर की तल्लीनता यद्यपि सरस्वती की वीणा की झकार की मधुरता को समय-समय पर बलात् उनकी जिह्वा पर लाकर बैठा देती थी, फिर भी उनके पीछे बहुत दिन तक यह बात न चल सकी। परम्परा, सप्रदायों का प्रवर्तन कर सकती है पर कविता को अपने आँचल मे बाँध नही ले जा सकती। परम्परा के पालन के लिए कही गई साखियो या शब्दो मे न कविता का अतरग आ पाया और न बहिरग। और आ भी कैसे सकता था? कविता का अतरग या आत्मा, भावो की तीव्रता है जिनका उद्भव हृदय की तल्लीनता के बिना असभव है। और वैसे तो बहिरग सौन्दर्य का अनुसरण करता है पर कभी-कभी स्वाभाविक बाह्य सौन्दर्य की वृद्धि के लिए बाहरी उपाय भी काम मे लाये जाते हैं। इसके लिये साहित्यशास्त्र का ज्ञान अपेक्षित है। इन दोनों बातो से ये 'निर्गुणिए' साधु कोरे होते थे। न उनमें भावुकता होती थी और न पाडित्य ही। अधिक से अधिक मूल्य मानने पर उनकी वाणियाँ रूखी-सूखी भाषा मे लिखे गये दर्शनग्रन्थ-मात्र कहे जा सकते हैं जिनका एक मात्र उद्देश्य वैराग्योत्पादन था, (यद्यपि दार्शनिक भी उनके दर्शन ग्रथ कहे जाने पर आपत्ति कर सकते हैं।) इसलिये वे तभी तक जनता को आकर्षित कर सकते थे जब तक उसे जीवन अप्रिय लगता रहा। परन्तु जब मुगलो ने भारतवासी होकर भारत पर शासन करना आरम्भ किया और लोगो

प्रयोजन

को जीवन की सामान्य आवश्यकताओ के उपस्कर उपलब्ध होने लगे तब यह स्वाभाविक था कि इन फीकी बातो से हटकर उनकी रुचि सरसता और सुन्दरता की ओर झुकती। समय की इसी प्रवृत्ति ने साहित्य-क्षेत्र मे एक ओर सगुण भक्ति का और दूसरी ओर साहित्य शास्त्रचर्चा का वह प्रवाह चलाया जिसे किसी उपयुक्त नाम के अभाव मे रीति-प्रवाह कह सकते है। सूर, तुलसी आदि सगुण भक्त कवियो ने वैराग्य-विमोहित कविता मे अतरात्मा को फूँकने का प्रयत्न किया और रीति के आचार्य उसके बहिरग को सँवार कर उसका ठाट-बाट खडा करने मे यत्नवान हुए। आगे चल कर मुगल दरबार की बढती हुई शानो-शौकत तथा ऐशो-इश्रत ने, जिसकी नकल करने मे भारतीय राजाओ ने आपस मे स्पर्द्धा दिखाई, केशवदास-द्वारा प्रवर्तित रीति-प्रवाह को इतनी उत्तेजना दी कि भक्ति-प्रवाह थम-सा गया और साहित्य-क्षेत्र मे रीति प्रवाह का ही साम्राज्य हो गया यद्यपि स्वय केशव ने भी भक्ति-प्रवाह मे कुछ योग दिया था।

केशव को रीति-प्रवाह का प्रवर्तक कहने से हमारा यह तात्पर्य नही कि हिन्दी मे उन्होने पहले पहल साहित्य-शास्त्र पर कलम चलाई। उनसे

आचार्यत्व

पहले भी साहित्य शास्त्र के अगो पर ग्रथ लिखे जा चुके थे। हिन्दी साहित्य के इतिहास मे पुष्य नामक कवि सबसे पहला कवि समझा जाता है। शिवसिंह सेगर ने ७०० बिक्रमाब्द मे इसका होना लिखा है। कहते है, उसने अलकार पर ही अपना ग्रन्थ लिखा था जो अब मिलता नही। गोप कवि ने अलकार के दो छोटे-छोटे ग्रन्थ लिखे थे पर वे भी अप्राप्य हैं। हिन्दी-साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी सबसे पुरानी प्राप्य पुस्तके मोहन का शृगार-सागर और कृपाराम की हिततरगिनी है, जो अकबर के राजत्वकाल मे रची गई थी। इसी समय के लगभग रहीम ने बरवै छदो में 'नायिकाभेद' लिखा और क श ने कर्णाभरण, श्रुतिभूषण और भूपभूषण, तीन छोटे-छोटे ग्रन्थ लिखे। हिततरगिणी मे अत्यन्त सक्षेप रस का निरूपण है, शृङ्गारसागर मे केवल शृङ्गार रस का वर्णन है और कर्णेश के ग्रन्थ अलकार पर है। स्वय

केशव के बडे भाई बलभद्र ने नखशिख और दूषण विचार पर लिखा था। परन्तु ये सब उथले और क्षीण प्रयत्न थे और लोकरुचि के परिवर्तन की दिशा के सकेत होने पर भी साहित्य-शास्त्र के लिये विस्तीर्ण और अप्रतिबन्ध मार्ग न खोल सके। इस दिशा मे सबमे पहला विस्तृत और गभीर प्रयत्न केशव ही का था और यद्यपि उनके मत को हिंदी मे साहित्य-शास्त्र पर लिखने वालो ने आधार रूप से नही ग्रहण किया, फिर भी उन्होने लोगो की प्रवृत्ति को एक विशेष दिशा की ओर पूर्णतया मोड दिया। इसीलिये वे रीति-प्रवाह के प्रवर्तक और प्रथम आचार्य माने जाते हैं। वे केवल लेखनी के ही मुँह से बोलनेवालेआयार्य नही थे, व्यावहारिक आचार्य भी थे। अपनी शिष्या प्रवीणराय के प्रतिनिधित्व से उन्होने कवि-समुदाय को कविता के वाह्यरूप की बनावट सिखाने का काम अपने हाथ मे लिया था, और उस काम को करने के लिये वे सर्वथा योग्य भी थे। आचार्य मे जिन गुणो का होना आवश्यक है वे सब केशव मे वर्तमान थे। वे सस्कृत के भारी पडित थे, साहित्य-शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता थे, विद्वान् थे, प्रतिभा सपन्न थे और इन्द्रजीतसिंह के मुसाहिब, मत्री और राजगुरु होने के कारण ऐसे स्थान पर भी थे जहाँ से वे लोगो मे अपने लिये आदर-बुद्धि उत्पन्न कर सकते और अपने प्रभाव को बहुत गुरु बना सकते थे। केशव की ६ पुस्तको मे से रामालकृतमजरी, कविप्रिया और रसिकप्रिया साहित्य-शास्त्र से सम्बन्ध रखती है। रामालकृतमजरी पिंगल पर लिखी गई है, कविप्रिया अलकार ग्रथ है और रसिकप्रिया मे रस, नायिकाभेद, वृत्ति आदि बातो पर विचार किया गया है। रामालकृतमजरी अभी छपी नही है। कहते हैं, उसकी एक हस्त-लिखित प्रति ओडछा दरबार के पुस्तकालय मे है।

जहाँ तर्क सम्भव होता है हिंदी सभी विद्याओ के लिए सस्कृत की ओर मुडती है, यह उसका दयाधिकार है। केशव ने भी हिंदी साहित्यशास्त्र के उत्पादन मे अपने सस्कृत ज्ञान से लाभ उठाया। केशव का समय सस्कृत साहित्य-शास्त्र के इतिहास का वह युग है जिसमे सकलन और सलेषण का क्रम जोरो पर था। प्राचीन रसमार्ग, आलकारिको और रीतिमार्गियो के प्रचड आक्रमणो को सहकर भी मम्मट आदि नवीन रसमार्गियो के प्रयत्न से अपने

उचित स्थान पर प्रतिष्ठित हो गया था। ध्वनिमार्ग आगे चलकर उसकी प्रतिद्वन्द्विता मे खडा हुआ था। पर वह भी उसका पोषक बन बैठा था। यद्यपि रस के वास्तविक स्वरूप के विषय मे अप्पय दीक्षित और पडितराज जगन्नाथ के वाद विवाद के लिए अभी स्थान था पर फिर भी शास्त्रकारो ने यह निश्चित कर लिया था कि काव्य मे सारभूत अतरग वस्तु, रस है और अलकार, रीति और ध्वनि अपनी शक्ति के अनुसार उसके सहायक हैं, विरोधी नही, और न्यूनाधिक रूप से सभी का काव्य से स्थायी सबध है। अतएव साहित्य-शास्त्राकार अब विरोधी मतो से बहुत कुछ विरोधी अश निकालकर साहित्य-शास्त्र के भिन्न-भिन्न अगो के सामजस्य से एक पूर्ण पद्धति बना रहे थे। विश्वनाथ का साहित्य-दर्पण और उसके समान अन्य ग्रथ इसी प्रयत्न के फल थे। वैसे तो कवित्व शक्ति ईश्वरीय देन है, कहा भी है कि कवि जन्म से होता है बनाने से नही, पर साहित्य-शास्त्र के नियम बन जाने पर उन लोगो को भी कवि बनने का चस्का लगने लगा जो सहज कवि न थे। ऐसे लोगो की आवश्यकता की पूर्ति के लिए आचार्यों ने विषयो का भी वर्गीकरण कर दिया। कवि को किन-किन विषयो पर कविता करना चाहिए किन पर नही, उसे क्या-क्या अनुभव होने चाहिएँ आदि बाते उनके अभ्यास के लिए लिखी गई। इस प्रकार कवि-शिक्षा पर लिखा जाने लगा। केशव इन्ही पिछले ढग के आचार्यों मे है। सस्कृत से चली आती हुई इसी परम्परा को उन्होने हिन्दी मे जारी रखा।

केशवदास ने कवि-शिक्षा का विषय कोट काँगडा के राजा माणिक्यचद्र के आश्रय मे रहनेवाले केशव मिश्र के अलकारशेखर नामक ग्रथ के वर्णक रत्न (अध्याय) से लिया है। अलकार-शेखर कविप्रिया के कोई ३० वर्ष पहले लिखा गया होगा। इसके वर्णक रत्न मे केशव मिश्र ने उन विषयो का वर्णन किया है जिस पर कविता की जानी चाहिए यथा भिन्न-भिन्न रग, नदी, नगर, सूर्योदय, राजाओ की चर्या आदि। केशवदास ने इन विषयो को वर्णालकार और वर्ण्यालकार इन दो भागो में बाँटा है। वर्णालकार के अतर्गत भिन्न-भिन्न रग लिए गए हैं और शेष वर्णनीय विषय वर्ण्यालकार मे है। अलकार शब्द का यह विलक्षण प्रयोग है। शास्त्रीय शब्द अलकार के लिए केशवदास ने

विशेषालकार शब्द का व्यवहार किया है। इस प्रकार केशव ने अलकार का अर्थ विस्तृत कर दिया जिसके वर्णालकार, वर्ण्यालकार और विशेषालकार तीन भेद हो गए। विशेषालकारो अर्थात् काव्यालकारो के विषय मे केशवदास ने विशेष कर दडी का अनुसरण किया है। अध्याय के अध्याय काव्यप्रकाश से लिये गए है। कही-कही राजानक रुय्यक से भी सामग्री ली गई है। विषय-प्रतिपादन के साधारण ढग को सामयिक परपरा से प्राप्त करने पर भी प्रधान अगो पर बहुत पुराने आचार्यों का आश्रय लेने का फल यह हुआ कि रस की मिठास का मूल्य अलकारो की झनझनाहट के सामने कुछ न रह गया। साहित्य-शास्त्र के साम्राज्य मे रस को पदच्युत होकर अलकार की अधीनता स्वीकार करनी पडी और रसवत् अलकार के रूप मे उसका छत्रवाहक होना पडा। पुराने रीतिमार्गी आचार्य इतनी दूर तक नही गए थे। वे रसवत् अलकार वही मानते थे जहाँ एक रस दूसरे रस का पोषक होकर आवे, किन्तु केशव की व्यवस्था के अनुसार जहाँ कही रसमय वर्णन हो वही रसवत् अलकार हो जाता है। सूक्ष्म-भेद-विधान की ओर केशव ने बहुत रुचि दिखलाई है। उन्होने उपमा के बाइस और श्लेष के तेरह भेद बताए हैं। केवल सख्या-वृद्धि के उद्देश्य से भी कुछ अलकार ऐसे रखे गए हैं जिन्हे शास्त्रीय अर्थ में अलकार नही कह सकते, जैसे प्रेमालकार और ऊर्जालकार। जहाँ प्रेम का वर्णन हो वहाँ प्रेमालकार और जहाँ और सहायको के कम हो जाने पर भी अलकार बना रहे वहाँ ऊर्जालकार। प्रेम के वर्णन से काव्य की शोभा बढ सकती है पर वह अलकार नही हो सकता। गाल की नैसर्गिक गुलाबी सौदर्य को बढा सकती है पर आप उसे पेट और पाउडर या सिंदूर और लाक्षारस के साथ शृङ्गार की पिटारी मे नही रख सकते। रसिकप्रिया मे रस, नायिकाभेद, वृत्ति आदि विषयो पर परपरानुबद्ध वर्णन किया गया है। भेदोपभेद-विधान की तत्परता उसमे भी अधिकता से दिखाई गई है: नायिकाओ का (पद्मिनी, चित्रिणी आदि) जातिनिर्णय भी काव्यशास्त्र के अतर्गत ले लिया गया है यद्यपि उसका कामशास्त्र से ही सम्बन्ध है। स्वय केशव की कविता में पवित्रता का अभाव नही है पर आगे चलकर इस प्रवृत्ति ने कविता के पावित्र्य पर कुठारा-

घात किया और कविता को कामोद्दीपन की सामग्री बना दिया। रसिक काव्य-रस का प्रेमी नही रहा, स्त्रियो से छेड-छाड पसद करनेवाला हो गया।

केशव केसन अस करी जस अरिहू न कराहि।
चंद्रबदनि मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहि ।।

यह रसिकता के उदाहरण रूप मे पेश किया जाता है। स्नान के घाट कवियो के अड्डे हो गए।

इन ग्रथो में केशव का बहुत शक्तिमान प्रयत्न निहित है जिससे उनकी इतनी धाक बैठी कि लोकरुचि के विशेष दिशा मे मुड जाने पर भी बहुत समय तक किसी को इस विषय पर कलम उठाने का साहस न हुआ। पर जब लोगो ने लिखना आरम्भ किया तो आचार्यों की बाढ सी आ गई। सभी नायिकाभेद, नखशिख, अलकार और रस पर लिखने लगे। इन पर लिखे बिना कवि-कर्म अधूरा समझा जाने लगा। पर केशव को कोई भी आधार बनाकर नही चला और यह उचित ही हुआ, क्योकि केशव भारतीय साहित्यशास्त्र की प्रगति के इतिहास की कई शताब्दियाँ निगल जाना चाहते थे। उनके बाद जयदेव के चद्रालोक आदि ग्रथो का अनुसरण किया गया। राजा जसवतसिह का सर्व-प्रिय ग्रथ भाषाभूषण इसी चद्रालोक का छायानुवाद है।

हम देख चुके है कि ऐतिहासिक कारणो से भी रीति-प्रवाह को भारी उत्तेजना मिली जिसका आरभ मे उल्लेख किया जा चुका है। इस सब का फल यह हुआ कि कविता मे आडबर और कृत्रिमता ने अपना घर कर लिया, अतरग की उपेक्षा होने लगी और अन्त मे शब्दो की टेढी-मेढी करामात और रीति की रीती खड़खडाहट ही कविता समझी जाने लगी। हद तक पहुँच जाने पर इस प्रवाह ने पलटा खाया और प्रतिफल मे आज लोग दूसरी हद तक पहुँचना चाहते हैं। कविता के बहिरग को वे केवल अपने ही भाग्य पर नही छोड देना चाहते, बाधा मानकर विद्वेष की दृष्टि से भी देखते है। हिन्दी की वर्तमान छायावादी कविता इसी मार्ग का अनुसरण कर रही है।

इसमे सदेह नही कि अतरात्मा बाह्य रूप से हर हालत मे महत्वपूर्ण होती

है, परन्तु बाह्य रूप भी निरर्थक नही। उसकी अपनी उपयोगिता है। अंतरग आँखो के सामने नही रहता, वह हमेशा छिपा रहता है। उसको देखने के लिये तीव्र अतर्द्दष्टि और उसका आनदोपभोग करने के लिए कोमल हृदय चाहिए जो हर एक में नही हो सकता। परन्तु बाहरी सौदर्य के सबके दृष्टिपथ पर खुले रहने से, पहले तो अनायास ही सब उसके पास खिचे आते हैं आगे चलकर मेल-जोल बढ जाने पर विरक्ति हो जाय। कितने लोग हैं जो किसी युवती के बाह्य रूप पर मोहित होने के लिए उसके आतरिक सौदर्य को देखने तक ठहरे रहते है ? मनोहर सगीत को सुनकर हरिणी जो मुग्ध हो जाती है वह उसमे व्याप्त भाव या रस को अवगत कर नही ! कविता मे जो नादात्मक सौदर्य होता है वह इसी बाह्यरूप के अतर्गत है। यदि बाह्यरूप की कुछ उपयोगिता ही न होती तो सस्कृत के धुरधर साहित्याचार्य रीति, अलकार या वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा कह डालने की भीषण गलती करने को बाध्य न होते। और कुछ न सही तो इतना मानना पडेगा कि यह बाह्य रूप जनसाधारण को काव्य की ओर आकृष्ट करता है जिससे काव्य के साथ सपर्क रहने से धीरे-धीरे उनमे उत्कृष्ट काव्य को समझने तथा उसके रस का आनन्द उठाने की योग्यता आ जाती है। साहित्यिको की भाषा मे कह सकते हैं कि वे सहृदय हो जाते हैं क्योकि सहृदयता सहजात ही नही होती, जन्म के उपरान्त पडनेवाले प्रभावो का फल भी हो सकती है जिनमे काव्य-जगत् से सपर्क भी एक है। इस सपर्क का प्रभाव उस अवस्था मे और भी आशामय हो जाता है जब पाठक वा श्रोता के सामने बाहरी ठाट के साथ अतरात्मा भी हो। कोरे ठाट-बाट से काम न चलेगा। पूरा प्रभाव तभी पड़ सकता है जब यह बाहरी ठाट बाट स्वय साध्य न होकर उस दूसरे प्रभाव का साधन हो जो कुछ स्थायित्व लिए हो, जो हमारे मर्म को छूकर हमारे अस्तित्व का अपरिज्ञेय भाग होकर ठहरे। ऐसा होने से फिर विरक्ति की वह आशका रह ही नही जाती जो अभी-अभी कुछ समय हुए उठी थी। अतएव बहिरग सौंदर्य को अन्तरग सौदर्य का सहायक होना चाहिए, और उतनी ही मात्रा में होना चाहिए जितनी मे वह

अंतरंग और बहिरंग का तारतम्य

सौदर्य की परिभाषा के अन्दर रह सके। उसका इतना बाहुल्य न हो कि कविता बेचारी उसके नीचे दिखाई ही न पडे या कुचलकर उसकी दुर्दशा हो जाय। जूडे के साथ गुथा हुआ एक पुष्प, फूलो का एक गजरा या मोतियो की एक लडी या और कोई स्वल्प आभरण ललना के लावण्य को बढा सकता है पर यदि उसके नाक, कान फोडकर या उसे सुफेद अथवा पीली धातु या रग-बिरगे पत्थरो से लादकर यह प्रभाव लाया चाहो तो कैसे बन सकता है? कहने का तात्पर्य यह है कि साध्य को साधन के लिये बलिदान नही कर देना चाहिए।

बहिरग के लिए अतरात्मा के बलिदान की सब से बडी आशका तब होती है जब लक्षणकार स्वय कवि बन बैठता है। साहित्य-शास्त्र कविता का व्याकरण है। कविता ही उसकी सृष्टि का कारण है। अतएव उसे कविता का अनुगमन करना चाहिए, उसका अग्रगामी नही बनना चाहिए। लक्षणकार का कर्तव्य है कि वह अपने लक्षणो के उदाहरण कविता के साम्राज्य से ढूंढ-ढूंढ कर प्रस्तुत करे, उसे अपने आप उन्हे गढने का जबर्दस्ती प्रयत्न न करना चाहिए। मनुष्य-शरीर के पार्थिव तत्वो का विश्लेषण किया जा सकता है परन्तु वह रासायनिक विश्लेषक यदि चाहे कि उन तत्वो के मेल से जीता-जागता मनुष्य खडा करदे तो यह असभव है, इसके लिए परमात्मा ने दूसरी ही प्रयोगशाला बनाई है। साहित्यशास्त्र के नियम भी कविता के विश्लेषण के परिणाम हैं। उनके ही आधार पर कविता का ढाँचा भर खडा किया जा सकता है जो कितना ही सुन्दर क्यो न हो आखिर निर्जीव ढाँचा ही तो है। केशवदास ने अपने लक्षण ग्रथो मे कुछ स्वतत्र चिन्तन और समन्वय-बुद्धि का परिचय दिया है परन्तु जबर्दस्ती स्वय ही उदाहरण गढने का एक ऐसा आदर्श उन्होंने अपने अनुयायियो के सामने रखा जिससे साहित्य-शास्त्र और काव्य-साम्राज्य दोनो का अहित हुआ। आचार्य लोग साहित्य के विश्लेषण से नवीन नियमो का अन्वेषण कर उसके रहस्यो के उद्घाटन का कार्य छोड़कर उदाहरण ही गढने मे अपनी शक्ति व्यय करने लगे। इससे साहित्यशास्त्र मे तो कोई उन्नति न हुई, हाँ, कविता के भांडार मे असली के साथ-साथ नकली सिक्के खूब भर गए, वहाँ की बात ही दूसरी है जहाँ सामयिक लहर में पडकर कवियो को लक्षणकार बनना पडा।

कवित्व

केशव की रचनाएँ लक्षणो और उदाहरणो मे ही समाप्त नहीं हो जाती। ऊपर कहे गए लक्षण-ग्रथो के अतिरिक्त उन्होंने और चार ग्रथो की रचना की, रामचन्द्रिका, जहाँगीर-जस-चद्रिका, वीरसिंह-देवचरित और विज्ञानगीता। जहाँगीर-जस-चद्रिका और वीरसिंह-देवचरित क्रमशः जहाँगीर और वीरसिंहदेव की प्रशंसा मे लिखे गए है। विज्ञानगीता एक प्रकार से क्षीणप्राय निर्गुण भक्ति का ही विरक्ति प्रचारक अवशेष है। रामचद्रिका केशव की सबसे उत्कृष्ट रचना है पर उसकी रचना भी ऐसी मालूम होती है कि मानो भिन्न-भिन्न लक्षणो के उदाहरण-स्वरूप रचे गए पद्यो का तरतीबवार सग्रह हो। दूषणो तक के उदाहरण उसमे मिलते है। छदो की ओर दृष्टि डालने से तो यह पिगल का-सा ग्रथ मालूम पडता है। आदि मे एकाक्षरी से लेकर कई अक्षरो तक के छदो का क्रमशः एक ही स्थान पर मिलना इस विचार को पुष्ट करता है कि हो न हो केशव रामचद्रिका के पहले पिगल ही का ग्रथ बना रहे थे, परन्तु विषय की सभावनाओ तथा सगुणभक्ति के प्रवाह मे योग देने की इच्छा से उन्होने वह रूप दे डाला जो हमे आज पढ़ने को मिलता है। रामालकृतमजरी केशव का बनाया हुआ एक पिगल ग्रन्थ है, यह हम कह चुके है। रामचद्रिका की कुछ हस्तलिखित प्रतियो मे कुछ छदो के नीचे यथा 'रामालकृत-मजर्या' लिखकर उन छदो के लक्षण लिखे है। सभव है रामचद्रिका, रामालकृतमजरी का परिवर्तित या परिवर्धित रूप हो या ये छद रामालकृतमजरी में दिए गए हो। रामचद्रिका के बहुत से छद कविप्रिया मे भी उदाहरण-स्वरूप दिए गए है। रामालकृत-मजरी का समय तो ज्ञात नही पर यदि कविप्रिया और राम-चद्रिका का समय ज्ञात न होता तो हमारी यही कहने की प्रवृत्ति होती कि यह ग्रथ भिन्न-भिन्न लक्षण ग्रथो से सकलित कर सगृहीत किया गया है।

बाबा बेनीमाधवदास ने अपने मूल गुसाईंचरित मे लिखा है कि एक बार केशवदास जी तुलसीदास जी से मिलने गए, पर वे तुरन्त ही उनके स्वागत के लिये न आ सके। केशवजी समझे कि इन्हे रामचरितमानस रचने का बडा गर्व हो गया है, उसे दूर करना चाहिए। उलटे पाँवो वापिस आकर उन्होने एक

ही रात मे रामचद्रिका बनाकर तुलसीदासजी को दिखा दी। रामचद्रिका सरीखे बृहद्ग्रथ को एकही रात मे नक्ल कर सकना भी असम्भव नही तो अत्यन्त कठिन अवश्य है, उसे रचने की बात तो दूर रही। क्या यह प्रकारांतर से यह सूचित करने के लिए तो नही कहा गया है कि रामचन्द्रिका एक सग्रह ग्रथ मात्र है। गम्भीर प्रकृति के लोगो को यह सब निरर्थक प्रलाप मालूम होगा। इसके बल पर हम भी नही कहना चाहते कि अवश्य ही रामचद्रिका लक्षणो के उदाहरणो का सग्रह है, पर इतना अवश्य है कि रामचद्रिका को लिखते समय केशव की आँखो के सामने वे लक्षण सर्वदा बने रहते थे जिन्हे आगे चलकर ग्रथ रूप मे प्रकट किया। इसी से रामचन्द्रिका मे भी कविता का आभ्यतर कम आ पाया है। कविता के अन्तरग और बहिरग का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। कवि के ओर दृष्टि रखकर इन्ही को 'हृदय-पक्ष' 'कला-पक्ष' कहा जाता है। हृदय का सम्बन्ध हमारे रागो या भावो से है और कला बुद्धि की उपज है।

हिन्दी मे सच्ची आलोचना के प्रवर्तक श्रद्धेय गुरुवर पडित रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'कविता' वह साधन है जो सारी सृष्टि से हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। यह काम न गढे हुए उदाहरणो, या फर्मायशी पद्यो से हो सकता है और न चाटुकारी के लिये की गई झूठी प्रशसा से। हमारा तात्पर्य यह नही है कि लक्षणो के उदाहरण रूप मे या राजाओ की तारीफ मे उत्कृष्ट काव्य हो ही नही सकता। यह इस बात पर निर्भर है कि रचयिता के रागों का अपने वर्ण्य विषय से कितना घना सम्बन्ध है। भूषण का शिवराजभूषण भी अलकार ग्रथ है और एक राजा की प्रशसा मे लिखा गया है। फिर भी भूषण का काव्य उत्कृष्ट काव्य है, क्योकि भूषण की प्रशसा झूठी प्रशसा नही है। केशव की शब्दावली का व्यवहार करे तो उनकी 'सत्यभाषिणी मति' है। यह मतलब नही कि कवि बिल्कुल सच बोले। कवि-सत्य साधारण या वास्तविक सत्य नही होता, हार्दिक सत्य होता है। जिस बात को कवि सत्य समझता है, चाहे वह झूठ ही क्यो न हो, इस प्रकार कहना कि श्रोता भी उसे ठीक उसी भाव मे समझ जाय जिस भाव मे कवि समझता है, अर्थात् उसमें

उसकी वृत्ति रम जाय, कवि-सत्य कहता है। परन्तु यह बात तब तक नही हो सकती जब तक स्वय कवि की वृत्ति उसमे न रमी हो, जब तक स्वय उसे अपने कथन की सत्यता पर अटल विश्वास न हो। कवि को जब किसी बात की सत्यता मे पूर्ण विश्वास हो जाता है तब उसकी मागलिकता का, उसके सौदर्य का, उसके आनन्द का, वह स्वय अकेला ही उपभोग नही कर सकता क्योकि वह स्वार्थी नही होता। वह चाहता है कि सारा ससार उसके आनन्द को बॉटकर बढावे, और जब तक वह उस सत्य के सदेश को कह नही डालता तब तक उमग का एक बोझ उसके हृदय पर पडा रहता है, जो उसे चेन नही लेने देता। यही बेचैनी कवि की वाणी को वह अबाध प्रवाह, वह अप्रतिहत गति देती है जो सीधे श्रोता या पाठक के अन्तस्तल मे पहुँचकर वहॉ भी उथल पुथल मचा देती है। भूषण के दिल मे ऐसी ही बेचैनी थी। १८,००,००० की थैली, १८ हाथी और १८ गाँव पाने की नीयत से उसने अपना 'इन्द्र जिमि जभ पर बाडव सुअभ पर' वाला कवित्त नही कहा था, बल्कि अपने दिल के गुबार बाहर निकालकर उसे हलका करने के लिए, हिंदुत्व के सदेश को जनसाधारण के दिल की गहराई तक पहुँचाने के लिए, उसकी रक्षा के सत्य स्वरूप को प्रत्यक्ष करने के लिए। शिवाजी और भूषण को अलग-अलग व्यक्ति नही समझना चाहिए। वे एक ही घटनावली के दो पक्ष थे। हिन्दुत्व की प्रदीप्त आत्मा कर्म-क्षेत्र मे शिवाजी और भावना क्षेत्र मे भूषण के रूप मे जाज्वल्यमती हुई। भूषण भावना क्षेत्र के शिवाजी थे, और शिवाजी कर्म-क्षेत्र के भूषण परन्तु क्या केशव के विषय मे ऐसी कोई बात कही जा सकती है? क्या उसमे वह बेचैनी नजर आती है, क्या वह रागात्मक तल्लीनता दिखाई देती है जिसके कारण भूषण का काव्य उच्चकोटि के काव्य मे परिगणित होने के योग्य हुआ है? 'अपयश की गोली' खिलाने योग्य बीरबल, केशव को ६,००,००० का दान, देने पर उसी दम ऐसे यश का भागी हो जाता है कि उसके दान के प्रभाव से—

भूलि गयो जग की रचना चतुरानन बाय रह्यो मुख चार्यो।

इन्द्रजीत की भी उन्होंने इसलिये प्रशसा नही कि उनमे कुछ ऐसे गुण थे

कि जिनके कारण कवि का मन उमगित होता है और उसके हृदय मे सद्-भावनाएँ उद्दीप्त होती हैं किन्तु इसलिए कि उनके

'राज केसोदास राज सो करत है।'

केशवदास राजा की तरह रहते थे, यह सुनकर आजकल के अपुरस्कृत कवियो के दिल से 'आह' भले ही निकल जाय पर इन्द्रजीतसिह अथवा वीरसिंह-देव के साथ जनसाधारण के चित्त का कोई रागात्मक सम्बन्ध नही जुड सकता, जब कि शिवाजी उद्भट योधा, निर्बलो के रक्षक और स्वतन्त्रता के उपासक होने के कारण बलात् चित्त की वृत्तियो को अपनी ओर खीच लेते हैं। यही कारण है कि वीरसिहदेव-चरित और जहाँगीरजसचद्रिका के नाम साहित्य के इतिहास-ग्रथो मे ही मिलते है। रामचद्रिका का पठन-पाठन भी इने-गिने धुरधर पडितो तक ही परिमित रहा। रामचन्द्रिका के आज बहुत से प्रशसक मिल सकते है। परन्तु उन्हे यदि जरा टटोल कर देखिये तो यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि वे रामचन्द्रिका का नाम ही नाम जानते है, (किसी परीक्षा के लिये विवश होकर पढनी ही पडी हो तो बात दूसरी है)। रामचन्द्रिका का नाम रामकथा की महिमा से हुआ है, केशव की कविता की हृदयस्पर्शिता से नही। सक्षेप मे, केशव के काव्य मे हमे रागात्मक तत्व बहुत थोडा मिलता है।

इसका कारण यह जान पडता है कि उनका निरीक्षण बहुत परिमित था, उन्होने देखने का प्रयत्न ही नही किया। मनुष्य जीवन तो उनकी आँखो मे कुछ पड भी गया था पर प्रकृति मे अतर्हित जीवन का स्पदन वे नही देख पाये। मनुष्य जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओ मे जहाँ उनकी दृष्टि गई है वहाँ उनकी भावुकता भी जाग्रत हो गई है। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते है—

उसके सुख को देखकर जलनेवाली सौत को और जलाने की कौशल्या की यह इच्छा कितनी स्वाभाविक है,

रहौ चुप ह्वै सुत क्यो बन जाहु
न देखि सकै तिनके उर दाहु;

और जो नासमझी और चारित्रिक निर्बलता के कारण अपने ही प्रिय का

अपकारी बन जाय ऐसे आदरणीय के प्रति भी यह उपेक्षा और झुँझलाहट भी—

लगी अब बाप तुम्हारेहिं बाइ ।

किसी अपने ही मुँह से अपनी तारीफ करनेवाले की गर्वोक्तियाँ सुनकर दिल मे खुदबखुद तानेजनी की जो उमग उठती है उसे परशुराम के प्रति भरत के इस कथन मे देखिए—

हैहय मारे नृपति सँहारे सो यस लै किन युग युग जीऊ ।

दूसरे प्रकार के प्रसग मे यही भाव मैथ्यूआर्नल्ड ने इस प्रकार प्रकाशित किया है—

टेक हीड लेस्ट मेन शुड से
लाइक सम ओल्ड माइजर, रुस्तम होर्ड्स हिज फेम
ऐन्ड शस टु पेरिल इट विद यगर मेन ।

प्रभाव प्रकारातर से दोनो का एक पडता है । भडकाने का यह अच्छा तरीका है ।

भय और लज्जा से मनुष्य किस प्रकार सिकुड जाता है, वह रावण के सामने सीता की उस दशा में दिखाया गया है जिसमे उन्होने

सबै अंग लै अंग ही मे दुरायौ ।

मनुष्य पर जब घोर आपत्ति आती है तब वह पागल-सा हो जाता है । वियोग भी ऐसी ही आपत्ति है, जिसमे वियुक्त अपनी सुध-बुध भूल जाता है, अपनी परिस्थिति को नही देखता, ककड पत्थर से भी प्रश्न करके उत्तर की प्रतीक्षा करता है । परन्तु यह पागलपन मानसिक अव्यवस्था का फल नही होता बल्कि प्रियाभिमुख अत्यत सजग राग का निकास है । हनुमान राम की मुद्रिका साथ ले आये थे जिसको दिखाकर उन्होने सीता को विश्वास दिलाया कि मै राम का ही दूत हूँ । उस मुँदरी के प्रति सीता जी के इस भावपूर्ण कथन मे भी यही बात देखने को मिलती है—

श्रीपुर मे बन मध्य हौं, तू मग करी अनीति,
कहि मुंदरी अब तियन की को करिहै परतीत ?
कहि कुशल मुद्रिके ! रामगात·· ~

परन्तु यह निरीक्षण भी इतना पूर्ण नही था कि बहुत दूर तक केशव की सहायता कर सकता। कई मर्मस्पर्शी घटनाओ का भी उन्होने ऐसा वर्णन किया है जिससे मालूम होता है कि मनुष्य की मनोवृत्तियो को वे बहुत ही कम समझ पाए थे। यहाँ पर एक ही उदाहरण देगे।

रामचद्र कपट मृग को मारने गये थे। 'हा लक्ष्मण' शब्द सुनकर सीता ने सोचा कि राम लक्ष्मण को, सहायता के लिये, बुला रहे है पर लक्ष्मण ने सीना को अकेला छोडना ठीक नही समझा तब

"राजपुत्रिका कह्यो सो और को कहै, सुनै।"

लक्ष्मण को जाना पडा। वे सीता को अभिमन्त्रित रेखा के बाहर आने की मनाही कर चले गए। कपटयोगी रावण को भिक्षा देने के लिए सीता ने लक्ष्मण की शिक्षा का उल्लघन किया और फलस्वरूप वे रावण द्वारा हरी गईं। तब वे बिलखने लगी—

हा राम, हा रमन, हा रघुनाथ धीर ॥
लकाधिनाथ वश जानहुँ मोहि वीर ॥
हा पुत्र लक्ष्मण छोड़ावहु वेग मोंहि ॥
मार्तडवंश यश की सब लाज तोहि ॥

यदि केशवदास मनोवृत्तियो से परिचित होते तो इस अवसर पर इस अपील मे उनकी सीता अपना हृदय खोलकर रख देती, अपनी निस्सहाय अवस्था का जिक्र करती, अपने हर्ता की क्रूरता का जिक्र करती, उसे कोसती, केवल लका-धिनाथ कहकर न रह जाती, लक्ष्मण को बुरा भला कहने तथा उनका आदेश न मानने के लिये अपने आपको धिक्कारती, अपने पर व्यग छोडती। पर इस तार स्वर में क्या है ? और कहाँ तक आत्मीयता झलकती है ? 'रमन' और

'पुत्र' को छोडकर कौन बात ऐसी है जिसको आपत्ति मे पडी हुई स्त्री दूसरे के प्रति नही कह सकती ? पर कई ऐसे स्थल तो उन्होने साफ छोड दिये हैं।

मनुष्य जीवन के अन्दर तो उनकी अर्न्तदृष्टि कुछ दिखाई भी देती है पर प्रकृति के जितने भी वर्णन उन्होने दिए है वे प्रकृति-निरीक्षण का जरा भी परिचय नही देते। क्लिष्टता की दृष्टि से लोग उनकी तुलना मिल्टन से करते हैं। मिल्टन से उनकी इतनी और समानता है कि उन्होने भी प्रकृति का परिचय कवि-परम्परा से पाया है। मिल्टन लावा (लार्क) पक्षी को खिडकी पर ला बैठाते है तो ये कही बिहार की तरफ विश्वामित्र के तपोवन मे—

एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहै।

कह चलते हैं। मालूम होता है कि प्रकृति के बीच वे आँखे बन्द करके जाते थे, क्योंकि प्रकृति के दर्शन से प्रकृति कवि के हृदय की भाँति उनका हृदय आनन्द से नाच नही उठता। प्रकृति के सौदर्य से उनका हृदय द्रवीभूत नही होता। उनके हृदय का वह विस्तार नही है जो प्रकृति मे भी मनुष्य के सुख-दु.ख के लिये सहानुभूति ढूंढ सकता है, जीवन का स्पदन देख सकता है, परमात्मा के अतर्हित स्वरूप का आभास पा सकता है। फूल उनके लिये निरुद्देश्य फूलते हैं, नदियाँ बेमतलब बहती हैं, वायु निरर्थक चलती है। प्रकृति मे वे कोई सौन्दर्य नही देखते, बेर उन्हे भयानक लगती हैं, वर्षा काली का स्वरूप सामने लाती है और उदीयमान अरुणिमामय सूर्य कापालिक के शोणित भरे खप्पर का स्वरूप उपस्थित करता है। प्रकृति की सुन्दरता केवल पुस्तको मे लिखी सुन्दरता है। सीताजी के वीणावादन से मुग्ध होकर घिर आए हुये मयूर की शिखा, सुए की नाक, कोकिल का कठ, हरिणी की आँखे, मराल के मन्द-मन्द चलने वाले पाँव इसलिये उनके राम से इनाम नही पाते कि ये चीजे वस्तुत: सुन्दर है* बल्कि इस

---

* कबरी कुसुमालि सिखीन दई, गजकुम्भनि हारनि शोभ मई।
मुकुता शुक सारिक नाक रचे, कटि-केहरि किंकिणि शोभ सचे॥
दुलरी कल कोकिल कठ बनी, मृग खंजन अंजन भाँति ठनी।
नृप-हंसनि नूपुर शोभ गिरी, कल हंसनि कंठनि कंठसिरी॥

तो है ही, घृणा भी पैदा करती है। केशव का बालारुण को देखकर यह सन्देह करना कि—

के श्रोणितकलित कपाल यह किल कपालिका काल को

हड्डीवाली उपमा ही के समान है।

इसके साथ सदेहालकार के जो और पक्ष हैं और जो एक उत्प्रेक्षा है, वे इसके विरोध मे कितने मनोरम लगते हैं—

अरुणागत अति प्रात पद्मिनी प्राणनाथ भय।
मानहुं केशवदास कोकनद कोक प्रेममय॥
परिपूरण सिंदूर पूर कैधौं मंगल-घट।
किधौं शक्र को छत्र मढ्यो मानिक मयूष पट॥
कै श्रोणितकलित कपाल यह किल कपालिका काल को।
यह ललित लाल कैधों लसत दिग्भामिनि के भाल को॥

बस एक पक्ति ने सारा गुड गोबर कर दिया है! कही-कही तो प्रस्तुत वस्तु ऐसे अरुचिकर रूप मे सामने आती है कि केशव की रुचि पर तरस आए बिना नही रहता। वे एक जगह रामचन्द्र की उपमा उल्लू से दे गए हैं—

वासर की सम्पति उलूक ज्यों न चितवत।

और कही-कही पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत वस्तु मे कुछ भी समानता नही होती, केवल शब्द-साम्य के बल पर अलकार गढ दिये गये हैं। पचवटी का यह वर्णन लीजिए—

पाडव की प्रतिमा सम लेखौ, अर्जुन भीम महामति देखौ।
है सुभगा सम दीपति पूरी, सिंदूर की तिलकावलि रूरी॥
राजति है यह ज्यों कुल कन्या, धाइ विराजति है सँग धन्या।
केलिथली जनु श्री गिरिजा की, शोभ धरे सितकंठ प्रभा की॥

अब बताइए अर्जुन से अर्जुन के पेड की, भीम से अम्लवेतस का, सिंदूर के तिलक से सिंदूर के पेड का और दूध पिलानेवाली धाय से धाय पेड को क्या सादृश्य है? सिवाय इसके कि कोश मे एक शब्द दोनो का पर्यायवाची मिलतो

है ? इसे यदि किसी का जी खिलवाड कहने का करे तो उसका इसमें क्या दोष ? इस शब्दसाम्य के कारण कही-कही पर तो केशव के पद्य बिल्कुल पहेली हो गए हैं और खासकर वहाँ जहाँ उन्होंने सभगपद श्लेष के द्वारा एक ही पद्य मे दो-दो, तीन-तीन अर्थ ठूँसने का प्रयत्न किया है ।

'जाको देन न चहै बिदाई, पूछै केशव की कविताई'

का यही रहस्य है ।

हाँ, तो केशवदास जी के कलापक्ष अत्यन्त प्रबल है । उनकी बुद्धि प्रखर है और दरबारी होने के कारण उनका वाग्वैदग्ध्य ऊँचे दरजे का है । रामचन्द्रिका सुन्दर और सजीव वार्तालापो से भरी हुई है । व्यजनाएँ कई स्थानो पर बहुत अच्छी हुई हैं पर वस्तु या अलकार की, भाव की नही—

कैसे बँधायो ? जो सुन्दरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखो ।

मैने (हनुमान ने) तेरी सोती हुई स्त्री को देखा भर था इस पाप से बाँधा गया हूँ परन्तु तेरी (रावण की) क्या दशा होगी जो पराई स्त्री को पापबुद्धि से हर लाया है, यह व्यजित है ।

नए और लोकोपकारी विचारो की भी उन्होंने खूब उद्भावना की है । इसका सबसे अच्छा एक उदाहरण उस लथाड में है जो उन्होंने लव के मुँह विभीषण को दिलाई है । जिस खूबी से रावण ने अगद को फोडने का प्रयत्न किया था उससे उनकी राजनीतिज्ञता का परिचय मिलता है । अपनी इसी निपुणता के कारण वे वीरसिंहदेव का जुरमाना माफ कराने के लिए दिल्ली भेजे गये थे । राज-व्यवहार वे अच्छी तरह जानते थे । राज-सभा में रावण आतक प्रतिहारी की इस झिड़की में अकित है—

पढ़ै विरंचि मौन वेद जीव सोर छंड़ि रे,
कुबेर बेर कै कही न जच्छ भीर मंडि रे ।
दिनेस जाइ दूरि बैठु नारदादि संग ही,
न बोलु चंद मंद बुद्धि, इंद्रकी सभा नहीं ।

जरा विषय के बाहर चला जा रहा था । सक्षेप में, अपने निरीक्षण से एकत्र की हुई सामग्री को विचारो के पुष्ट ढाँचे मे ढालकर, उसे कल्पना का

सौन्दर्य देकर, तथा रागात्मिकता का उसमे जीवन फूँककर ही सफल कवि कविता का जीता-जागता मनोहर रूप खडा कर सकता है। जिसमे ये सब बाते न होगी उसे यद्यपि हम कवि कहने से इकार न कर सके, तथापि सफल कवि कहने को बाध्य नही किए जा सकते। केशवजी के विचारो की पुष्टता है, कल्पना की उडान है, और यद्यपि रागात्मकता का सर्वथा अभाव नही है फिर भी प्राय: अभाव ही-सा है। निरीक्षण भी उनका एकदेशीय है जो मनुष्य के जीवन-व्यवहार ही से सम्बन्ध रखता है, मनुष्य की मनोवृत्तियो पर उनका उतना अधिकार नही है और प्रकृतिनिरीक्षण तो उनमे है ही नही। भाषा भी उनकी काव्योपयोगी नही है; माधुर्य और प्रसाद गुण से तो जैसे वे खार खाए बैठे थे। परन्तु उनके नाम और उनकी करामात का ऐसा जादू है कि उन्हे महाकवि केशवदास कहे बिना जी ही नही मानता, यद्यपि कविता के प्रजातत्र मे 'महा' और 'लघु' के विचार के लिए स्थान नही है, क्योकि कविता यदि सच्ची कविता है तो, चाहे वह एक पक्ति हो या एक महाकाव्य, समान आदर की अधिकारिणी है और तदनुसार उनके रचयिता भी, वैसे तो महाकाव्य लिखनेवाले सैकडो कहाकवि निकल आयँगे। परन्तु यदि आदत से विवश होकर इस उपाधि का साहित्य-साम्राज्य मे प्रयोग आवश्यक ही हो तो उसे तुलसी और सूर के लिये सुरक्षित रखना चाहिए। हाँ, हिंदी के नवरत्नो मे (कविरत्नो मे नही) केशव का स्थान वाद-विवाद की सीमा के बाहर है क्योकि साहित्य-शास्त्र की गभीर चर्चा के द्वारा उन्होने हिंदी के साहित्य क्षेत्र मे एक नवीन ही मार्ग खोल दिया, जिसकी ओर उनसे पहले लोगो का बहुत कम ध्यान गया था।

नंददुलारे वाजपेयी
(१६६३ जन्म)

११

भारतीय साहित्य की एकता

जब हम भारतीय साहित्य की एकता की चर्चा करते हैं तब हमारा आशय भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न भाषाओ की साहित्यिक समाश्रयता से होता है। यदि हम आज के हिंदी, बगला, मराठी, गुजराती अथवा दक्षिणी भाषाओ के साहित्य को देखे, तो उनमे थोडा बहुत अन्तर भी दीखेगा। परन्तु सार रूप में प्रवृत्तियाँ प्राय: एक-सी ही पाई जाती हैं। विभिन्न-प्रदेशो और जनपदो की सास्कृतिक विशेषताओ की छाप इन साहित्यो मे प्राप्त होती हैं, जो स्वाभाविक है। साहित्य के विविध रूपो मे से किसी भाषा मे किसी रूप को विशिष्टता भी मिलती है। उदाहरण के लिए आज के मराठी साहित्य मे नाटको की स्थिति अपेक्षाकृत अधिक अच्छी है, वैयक्तिक निबन्ध भी उनके अधिक परिमाण में लिखे जा रहे हैं। यह उनकी प्रासगिक विशेषता है। इसी प्रकार अन्य प्रातीय भाषाएँ भी अपनी-अपनी अनन्यपरता रखती हैं। परन्तु इस वैभिन्य के भीतर एक मूलभूत एकता है, जिसे हम भारतीय साहित्य की एकता कह सकते हैं।

कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि किसी प्रदेश-विशेष साहित्य में जो विशेषताएँ आज प्रारम्भ हुई हैं, किसी अन्य प्रदेश के साहित्य मे वे ही विशेषताएँ दस बीस या पचीस वर्ष पहले या पीछे आरम्भ हुई थी या हुई हैं। उदाहरण के लिए बगाल मे रवीन्द्रनाथ का काव्य, बकिमचन्द्र के उपन्यास अथवा द्विजेन्द्र राय के नाटक बीसवी शताब्दी के आरम्भ से ही प्रचलित हो चुके थे। हिन्दी में उन्ही भावनाओं और शैलियो की रचना कुछ काल पश्चात् आरम्भ हुई। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि भारतीय साहित्य में आदान-प्रदान

की परपरा चला करती है, और विभिन्न प्रान्तों के साहित्य अपने सहयोगी प्रान्तो की रचनाओ का आवश्यकतानुसार उपयोग करते रहते हैं। यह तथ्य भी मूलत भारतीय साहित्य की एकता का ही लक्ष्यक है।

कहा जा सकता है कि आज की स्थिति मे भारतीय साहित्य की एकता की ही बात क्यो सोची जाय ? क्या हम ससार के दूसरे देशो के साहित्य से सपर्क नही रखते ? अथवा, क्या आवश्यकतानुसार उनका उपयोग नही करते ? क्या विश्व भर के साहित्य की एक इकाई नही है ? इन प्रश्नो का उत्तर दो दृष्टियो से देना होगा। एक तो यह कि भारतीय समाज की एक विशिष्ट सत्ता है, सामाजिक विकास क्रम मे वह एक निश्चित स्थिति पर पहुँचा हुआ है, तथा उसके दार्शनिक और सास्कृतिक आदर्श वे ही नही हैं जो किसी अन्य देश के हैं। इन कारणो से भारतीय साहित्यकार, अन्य देशों की कृतियो का अनुशीलन करते हुए भी, उन्हे उस प्रकार नही ग्रहण कर सकते, जिस प्रकार वे अपने देश की विभिन्न साहित्यिक कृतियो को ग्रहण करते हैं।

यही एक प्रश्न हमारी साहित्य-परपरा का भी उठता है। कोई भी देश अपनी साहित्यिक परपरा से नाता नही तोड सकता। अतीत का प्रभाव वर्तमान पर पडता ही है। इसके साथ ही उल्लेखनीय बात यह है कि भारतीय परपरा बहुत पुरानी है। पुरानी ही नही, वह अतिशय समृद्ध भी है। ऐसी स्थिति मे यह सभव नही है कि हम अपनी सारी विरासत को छोडकर दूसरे देशो के साहित्यो का छिछला अनुकरण करने लगे। कहा जा सकता है कि प्रगति की दौड मे ससार के साथ रहने के लिए यह आवश्यक है कि हम विदेशो के नए-से-नए साहित्य का परिचय रखे और उसे अपनाएँ। परन्तु यह बात अशत: ही सत्य है। यह आवश्यक नही कि जो कुछ नया है वह सबका सब अभीष्ट भी हो। राष्ट्रीय सस्कृतियो के उत्थान और पतन के अवसर भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। हम आँख मूँदकर नवीनता के नाम पर क्षीयमान सस्कृतियो वाले साहित्य को अपनाकर कोई लाभ नही उठा सकते।

यह बात तो हुई प्रगति मे पीछे न रहने की। पर हम चाहें भी तो पाश्चात्य देशो की प्रगति को पा नही सकते। प्रत्येक देश को अपना विकास

अपनी विशिष्ट परपरा के अनुसार ही करना पडता है। ऐसा न होने पर जो आमूल परिवर्तन या क्राति होगी, वह हमारे देश के लिए श्रेयस्कर नही कही जा सकती। प्रगति के दो ही मार्ग है, स्वाभाविक विकास का, अथवा क्राति का। इनमे से क्राति का मार्ग सदैव खतरे वाला हुआ करता है, और क्राति के परिणाम भी प्रायः अनिश्चित होते है।

भारतीय साहित्य की एकता पर जोर देने की आवश्यकता इसलिए भी है कि आज ससार के समक्ष भविष्य की स्थिति बहुत कुछ डॉवाडोल हो गई है। विघटन की शक्तियाँ इतनी बलवती हो गई हैं, कि यह नही समझ पडता कि नया विकास और नया सगठन किस प्रकार होगा। नई सभ्यता के इस सक्रान्तिकाल मे भारतवर्ष अपना सतुलन खो दे, यह उचित न होगा। इसके विपरीत यह अधिक आवश्यक है कि वह अपने साहित्य, अपनी कला और अपने जीवन-दर्शन द्वारा ससार को एक नया आलोक अथवा एक नवीन दिशा-ज्ञान देने की चेष्टा करे। ससार के बडे-बडे विचारक भी आज प्रकाश के लिये इधर-उधर टोह लगा रहे हैं। उनमे से कुछ की यह भी धारणा है कि भारतीय साहित्य और भारतीय जीवन-दर्शन उन्हे नया मार्ग-निर्देश दे सकते है। ऐसी स्थिति मे नई प्रगति को दौड़ कर अपनाने की अपेक्षा अपने प्राचीन साहित्यिक वैभव की ओर दृष्टिपात करना अधिक अच्छा होगा।

यदि हम अपने देश के प्राचीन साहित्य को देखे, तो उसमे एक मूलभूत एकता दिखाई देगी। इसका एक बडा प्रमाण यह है कि हमारे कतिपय महान साहित्यिको के जन्म स्थान का पता न होने पर भी समस्त प्रान्तो मे उनका प्रचलन है, और उन्हे समान सम्मान प्राप्त है। वाल्मीकि के कार्य-क्षेत्र का निर्देश कर भी दिया जाय, तो भी व्यास का व्यक्तित्व और उनकी इयत्ता तो अज्ञात ही रहेगी। फिर भी सारा देश उन्हे अपना समझता है। कालिदास की भी प्रायः ऐसी ही स्थिति है। विभिन्न प्रान्तो के पडित उन्हे अपनी-अपनी ओर खीचने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु कालिदास वास्तव मे किसी प्रान्त के कवि नही थे, वे समस्त भारत के कवि हैं।

हमारे देश मे विविधता मे एकता लाने की चेष्टा चिरकाल से की गई है,

और इस कार्य मे हमारे साहित्यिको ने विशेष योग दिया है। वैदिक साहित्य के द्वारा सारे देश मे एक-सी धार्मिक भावना, एक-सी यज्ञ-पद्धति और एक-सा दार्शनिक आधार प्रतिष्ठित हुआ था। आज भी भारतीय गृहो मे वैदिक सस्कार-विधियाँ प्रचलित है। रामायण मे राम के चरित्र की गरिमा और महत्ता एक आदर्श मानव की ही गरिमा और महत्ता है। केवल राजनीति के ही क्षेत्र मे नही, मानव-जीवन के सभी विशिष्ट क्षेत्रो मे आज भी भारतीय नागरिक राम के चरित्र को आदर्श मानते हैं, और उससे प्रभावित होते है। दक्षिण मे बाल्मीकि-रामायण का प्रचार उत्तर भारत से कम नही है, जो इस बात का द्योतक है कि भारत की सास्कृतिक एकता अत्यत बलवती और परिपुष्ट है। राम इसलिए महान् नही है कि उनका जन्म अयोध्या मे हुआ था और रावण इसलिए कदर्य नही है कि वह लका का राजा था। इन ऐतिहासिक और भौगोलिक तथ्यो का हमारी सस्कृति अतिक्रमण कर गई है, और तब जिन मूल्यो पर वह प्रतिष्ठित हुई है वे बहुत अधिक स्थायी मूल्य है।

कालिदास और भवभूति भारतीय वैभव-युग के प्रतिनिधि कवि हैं। एक उस वैभव की प्रारभिक स्थिति की सपूर्ण आशावादिता और उत्कर्ष से समन्वित है, तथा दूसरा उस वैभव के परिपाक की चरमावस्था का प्रतिनिधि है। दोनो की कृतियो मे ये दोनो पहलू अत्यधिक स्पष्ट हैं। भवभूति की भाषा मे सस्कृत की चरम प्रगल्भता सन्निहित है। कालिदास और भवभूति का सम्पूर्ण प्रदेय भारतीय वस्तु है, वह किसी प्रदेश का उत्तराधिकार नही।

जिस प्रकार ग्रीक-रोमन सभ्यता के चरम उत्कर्ष के पश्चात्, वर्जिल का महाकाव्य लिखा गया, उसी प्रकार भारतीय सभ्यता के चरम विन्दु पर पहुँचने के पश्चात् माघ और भारवि जैसे कवियो की कृतियाँ प्रकाश में आईं। शैली का सौदर्य इनमे चरम कोटि का मिलेगा, किन्तु भावोत्कर्ष बहुत कुछ क्षीण होने लगा है। भाषा का सर्वोत्तम परिष्कार इन कृतियों मे परिलक्षित होता है। एक-एक श्लोक के पाँच-पाँच और सात-सात अर्थ जिस निपुणता से निकाले जाते हैं, वे भाषा की चरम सिद्धि के परिणाम हैं। भट्टिकाव्य को साहित्य का

ग्रथ भी कहा जाता है, और उसे व्याकरण का ग्रथ भी कहते हैं। कितने महान् अधिकार को लेकर उसकी रचना की गई थी !

महाकाव्यो के इस निर्माण-काल के पश्चात् नया प्रवर्तन जयदेव द्वारा किया गया, जिन्होने मधुर प्रगीतो की शैली अपनाकर भारतीय साहित्य को अपूर्व माधुर्य से भर दिया। उन्ही के पश्चात् भारतीय लोक भाषाएँ अपने साहित्यो की समृद्धि करने मे तत्पर हुई, और एक साथ ही बगाल में चडीदास, मिथिला मे विद्यापति, उत्तर भारत मे कबीर, तुलसी और सूर, महाराष्ट्र मे ज्ञानदेव, गुजरात मे नरसी मेहता और राजस्थान मे मीराबाई के गेय पदो की महान् परपरा चल निकली। दक्षिणी भाषाओ मे भी आलवार सतो ने भक्ति-काव्य की रचनाएँ प्रस्तुत की। सारा देश इन भक्तो और सतो की सहज भावमयी वाणी से आप्यायित हो उठा। तुलना के लिए कुछ लोग किसी कवि को किसी से न्यून और किसी से श्रेष्ठ ठहरा सकते हैं; किन्तु वे तुलनाएँ अधिकतर साहित्यिक ही होगी। प्रतिभा का उत्कर्ष नापना साहित्यिको का काम है। जहाँ तक सास्कृतिक प्रेरणा का प्रश्न है, ये सभी कवि एक ही प्रेरणा से परिचालित हुए हैं। उसे हम एक शब्द मे धार्मिक प्रेरणा कह सकते हैं। लोकभाषाओ का यह साहित्य पूर्ववर्ती सस्कृत साहित्य की तुलना मे क्या और कैसा है, यह प्रश्न भी हमारे लिए अधिक महत्व का नही। जिन राष्ट्रीय और सामाजिक परिस्थितियो ने इस साहित्य को जन्म दिया और इसकी रूपरेखा निर्धारित की, उसका विवेचन भी हमारे लिए यहाँ आवश्यक नही। हम तो केवल यह देखते हैं कि चौदहवी से सत्रहवी शताब्दी तक समस्त देश मे एक ही साहित्यिक ध्वनि गूँज रही थी, और वह थी एक लोकातिक्रान्त शक्ति मे चरम विश्वास रखनेवाली सशक्त और बलवति ध्वनि।

उन्नति और विकास, अथवा प्रौढ़ता और परिपुष्टता के युगो मे ही नही, ह्रास और अवरोह के युगो मे भी भारतीय साहित्य अपनी एकता का साक्ष्य देता है। जिसे हम हिन्दी साहित्य का रीतिकाल कहते हैं, जिसकी प्रेरणा मुसलमानी साम्राज्य और फारसी साहित्य की नई परिस्थितियो से उत्पन्न हुई थी, वह भी किसी एक प्रदेश तक सीमित नही था। दरबारी कवियो का काव्य

भारत के विभिन्न प्रान्तो में तैयार हुआ। शृङ्गारी कविता और नायिका-भेद की रचनाएँ यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रस्तुत की गई। यही नही, चित्रकला और संगीत के क्षेत्रो मे भी बहुत कुछ समान-सी प्रगति सारे देश में होती रही। आज जिसे हम उत्तर का संगीत और दक्षिण का सगीत कहकर दो खंडो मे विभाजित करते हैं, उसमे भी समानता के बहुत से उपकरण हैं। शैलियाँ और कलमें बदली हैं। इतने बडे देश मे उनका बदलना स्वाभाविक और अवश्यम्भावी था। परन्तु मौलिक रूप मे एक समानता समस्त देश भर मे विद्यमान रही है। हिन्दी का कवि भूषण दक्षिण के सम्राट् शिवाजी की प्रशस्ति गाने मे तत्पर हुआ। उसी प्रकार गुजरात, महाराष्ट्र और बगाल के कवि ब्रज-भाषा मे कृष्ण-लीलाओ का गान कर रहे थे। प्रादेशिक भिन्नता का भाव इस देश की प्रकृति मे नही रहा।

अगरेजो के आने के पश्चात् हमारे देश पर जो नए प्रभाव पडे, और उनकी जो प्रतिक्रिया साहित्यिक निर्माण मे देखी गई, वह भी विलक्षण रूप से समान थी। कुछ समय तक विदेशी सभ्यता की चकाचौध, फिर एक नया परिवर्तन या पुनरुत्थान; फिर राष्ट्रीयता का प्रशस्तिगान और अतत. स्वच्छन्द काव्य की प्रवृत्तियाँ प्रायः सभी प्रान्तो मे एक सी पाई जाती है। यह बात दूसरी है कि किसी प्रान्त मे वह प्रभाव कुछ पहले आया और किसी अन्य प्रान्त मे कुछ समय पश्चात् आया। दूसरा अतर प्रतिभा के वैशिष्ट्य का भी है। किसी प्रान्त मे कुछ अधिक उत्कृष्ट प्रतिभाएँ दिखाई दी, किसी अन्य प्रान्त में कुछ कम। तीसरा अतर प्रादेशिक या जनपदीय सस्कृतियो का है। किसी प्रान्त मे किसी विशेष काव्य रूप की ओर अधिक प्रवृत्ति रही, किसी दूसरे प्रान्त में किसी अन्य काव्य-रूप की ओर। विभिन्न प्रदेशो की जलवायु और तज्जन्य लोक-रुचि के अनुसार विभिन्नताएँ भी आती रही है। परन्तु वे अतिशय स्वाभाविक हैं, और उनसे साहित्य की मूल विकासधारा और भावभूमि में कोई बड़ा अतर नही आया। आज हमारे देश की विभिन्न भाषाओ के साहित्यिक और विद्वान् इस बात से थोडे बहुत शंकित हो रहे हैं कि हिन्दी के राष्ट्रभाषा हो जाने से उनकी प्रादेशिक भाषा या साहित्य को कोई क्षति

पहुँचेगी, परन्तु भारतीय इतिहास इस शका को निर्मूल सिद्ध करता है। भारतीय जनता अपने ऐतिहासिक जीवन मे बराबर देखती आई है कि साहित्य देश को विभाजित करने का साधन कभी नही रहा, वह सदैव उसे सयोजित और सगठित करने का माध्यम रहा है। काव्य-विविधता मे अतर्निहित एकता इस देश की सस्कृति की प्रमुख विशेषता रही है। हमारा प्राचीन साहित्यिक विकास इसका निदर्शक है। भविष्य मे भी यह एकता प्रतिष्ठित होगी और स्थिर होकर रहेगी; इसमे सदेह करने के लिए अधिक स्थान नही है। इतिहास तो इस तथ्य की ओर सकेत करता है कि जब कभी हमारे देश मे भाषा और साहित्य की यह सयोजक शक्ति कम हुई है, और पृथक्ता तथा विदेशी प्रभावो का प्राबल्य हुआ है, तब-तब सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रो में सकट आया है और हमे राष्ट्रीय दुर्दिन देखने पडे हैं। भारतीय साहित्य की एकता का आदर्श सदैव हमारी राष्ट्रीय एकता के लिये अक्षय प्रेरणा-स्रोत रहा है और रहना चाहिए।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
(१६६३ जन्म) १२

छाया-रहस्य

हिन्दी मे छायावाद का आगमन साहित्यिक उत्थान के नाम पर हुआ, पर उसमे विशेष दृष्टि शैलीगत चमत्कार पर थी, पुष्ट पदविन्यास और प्रतीकात्मकता ऐसी राशीभूत हुई कि कुछ नवसिखुए कवि कतिपय बँधे बँधाए शब्दो का विनियोग मात्र काव्य का परम पुरुषार्थ मान बैठे। निश्चित शब्दो, वाक्यो, बधविधानो की ऐसी व्यवस्थित उद्धरणी होने लगो जिसकी एकतानता से बहुतो का जी ऊब उठा, पर हिन्दी-साहित्य को भी विकसित युग के अनुरूप भावव्यजक वक्रता की अपेक्षा और कुछ समर्थ कर्त्ता उसकी विनियोजना विशेष सावधानी और क्षमता से कर रहे थे, अत· लाक्षणिकता, चित्रमयता और वचनभगिमा की सवर्धमान अभिरुचि का समर्थन उन्हे भी करना पडा जो वस्तुतः काव्य-वस्तु के अत्यधिक तिरस्कार के अनुमोदक नही थे। यही क्यो, काव्य-वस्तु के वैशिष्ट्य का ध्यान रखकर कर्तृत्व दिखाने वाले पुराने कृती भी तो इस सामयिक नूतन प्रवृत्ति का अपने ढग से स्वागत कर रहे थे। इसलिए छायारहस्य-काव्य की प्रवृत्तियो का अनुशीलन इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि काव्यधारा की एक प्रणाली तो वह थी जो स्वभाव से नूतनता का विधान कर रही थी और दूसरी वह जो अगरेजी के बने-बनाए वाग्योगो को हिन्दी मे उतार रही थी तथा इसी ढर्रे पर स्वतः भी गढ लेती थी। पहली मे स्पष्टतया भारतीय व्यजना-पद्धति का विकास था और दूसरी मे अभारतीय काव्य-शैली का सीधा आरोप। पहली मे काव्य-वस्तु तिरस्कृत नही थी अथवा यो कहिए कि वस्तु और शैली की तुल्य-प्रधानता थी और दूसरी मे शैली ही बहुत कुछ थी, वस्तु तो एक प्रकार से अत्यन्त तिरस्कृत।

कुछ सज्जन समीक्षा-क्षेत्र मे भारतीय-अभारतीय-भेद से चौकते है। अतः लगे हाथ इस पर भी विचार कर लिया जाय। प्रथमतः इतिहास की दृष्टि से यथातथ्य का निरूपण अपेक्षित होता है। इसलिए जो भी और जैसी भी प्रवृत्ति परिलक्षित हो उसका निर्देश अनिवार्य है। दूसरे अभारतीय नाम से जिस प्रवाह का निर्देश होता है उसमे कुछ ऐसे प्रयोगो का आवर्तन रहता है जो वर्ण्य काव्य-वस्तु के अनुरूप नही होते। भारतीय-प्रभावापन्न भी वर्ण्य विषय तो भारतीय ही रखते है, अतः यदि अवर्ण्य या अप्रस्तुत का ऐसा विधान हो जो वर्ण्य या प्रस्तुत के मेल मे न हो अथवा प्रस्तुत या वर्ण्य से सबद्ध ऐसा कथन हो जो असत्य हो, तो उसे समीचीन कदापि नही कह सकते। चौकने वाले प्रायः अभारतीय साहित्य के ही प्रमुख अध्येतामता होते है। भारतीय साहित्य या शास्त्र के स्थूल द्रष्टा तक नही रहते। सस्कृत की कृतियाँ उनको वज्रादपि कठोर होती हैं और हिन्दी की कुसुम-कोमल प्राचीन कविता दुरूह। वे विद्यारभ से ही अँगरेजी की कृतियो और शैलियो से परिचित (सुपरिचित नही) होते हैं। उनका उन्ही से सात्म्य हो जाता है, उन्ही का रूप और मानदड अभ्यस्त रहता है। वे समझ ही नही पाते कि भारतीय रमणी का केशकलाप यदि, 'स्वर्णिम' कहा जाय तो क्या सदोषता आ जाती है, काव्य और जीवन का साधारण भारतीय सहृदय तक जिसे उपयुक्त नही समझती। पश्चिमी भूरे केशो के लिए 'स्वर्णिम' विशेषण तो ठीक है, पर भारतीय के केश तो श्याम, नीले या काले, ही हो सकते हैं। नाग, भ्रमर, काकपक्ष आदि ही उसकी उपमानता कर सकते हैं, अरुणाभ उषा कभी नही।

इसी प्रकार, भारत की उष्णता का हिमानी मे सापत्न्य है। पश्चिमी का शैत्या उसे प्रिया बनाए बैठा है। अतः यदि यहाँ कोई हिमानी को पवित्रता की प्रतिमा या गुण की प्रतिमूर्ति कहे तो श्वेतता के नाते आकर्षक होने पर भी भारतीय परम्परा का विपर्यास होगा। हिम को कविकुल-कलस कालिदास भी तो दोष कह चुके हैं—

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दो किरणेष्विवांकः॥

कुमारसभव

घन का घिराव भारत मे अप्रिय है। अरबी-फारसी के ससर्गी का मुहावरा भी 'आफत के बादल' पड गया है। अब कोई बादलो को सुख का या सुदिन का प्रतीक यहाँ माने तो कहना ही पडेगा कि यह भारत की वस्तु-स्थिति और परम्परा के विरुद्ध है, साथ ही काव्य मे अशोभन भी। 'मेघाच्छन्नेहि दुर्दिनम्' यहाँ की जीवन-गत प्रवृत्ति का अनुरोध है, उसे पीडा के ही प्रसग मे ले आना शोभन होगा—

जो घनीभूत, पीडा थी, मस्तक मे स्मृति सी छाई,
दुर्दिन मे आँसू बनकर, वह आज बरसने आई।

माना कि कवि-समय मे कुछ स्वीकृतियाँ वास्तविकता से विदूर होती हैं। किन्तु परम्परा की अधिकतर प्रवृत्तियाँ देशगत परिस्थिति, जीवनगत विश्वास आदि से ही सभूत होती हैं। वर्षों से चली आती हैं, बहुत दिनो तक बनी रहती हैं और जब व्यवहार से विशेष पार्थक्य हो जाता है तब कवि-समाज उनका परित्याग भी कर देता है, यद्यपि स्वच्छ द्रष्टाओ और आत्मानुभवी स्रष्टाओ ने परम्परा की भी नही मानी, पर उन्होंने आँख मूँदकर किसी विदेशी अर्थात् भारतीय जीवन के प्रतिकूल पडने वाली प्रवृत्ति का ग्रहण भी तो नही किया है, कवि-समय सिद्ध तो यही है कि कोकिल की काकली वसत मे ही सुनाई पडे और मयूर की केका वर्षा मे, पर वसत मे न मयूर मौन-व्रत साध लेते है और न वर्षा मे कोकिल का कठ ही सूख जाता है। उसमे जिन्होने स्वानुभवसाक्ष्य से कविसमय के विपरीत वसत मे मयूर का कठ खोला और वर्षा मे कोकिल को मुखर किया उन पर परम्परा के अपालन का दोष भले ही मढ ले, पर यह कैसे कह सकते हैं कि यह असत्य है। महात्मा तुलसीदास ने (जो परम्परा, मर्यादा और शास्त्र के बहुत बडे हिमायती होने से कोसे जाते हैं) भी ऐसा किया है। तात्पर्य यह कि परम्परा का त्याग सत्य की रक्षा का आग्रह था। अभारतीयता सत्य-सरक्षा की सगिनी बनकर ही शोभन होगी। अतः सत्यापलापकारिणी विदेशीयता को अभारतीय कहना तो सत्य है ही, अशोभन कहना तो परम सत्य है। अस्तु।

रहस्यात्मक छाया-युग की दूसरी प्रवृत्ति पर आइए। नैराश्य की जो

लहर उस समय उठी, जीवन से जोडने के फेर मे उसे कुछ विचारशील समीक्षकों ने राजनीतिक प्रवाह की असफलताओ से जोड दिया। कवि पलायनवादी घोषित किए गए। पर यह किसी ने न देखा कि नैराश्य की तरग-माला सात समुद्र पार की विदेशी काव्यधारा का भारतीयो मे उफान था। इसका लोक-जीवन से उतना सम्बन्ध नही था जितना व्यक्ति-जीवन के उद्‌गार से। वह लौकिक जीवन के नैराश्य का उत्साही नही था, कहाँ है चलित लोकजीवन के स्रोत मे स्नात मानसो मे नैराश्य की धारा भारत मे जीवन-दर्शन के क्षेत्र मे कही-कही अश्रुवाद भले ही स्वीकृत हो, सांख्यो की दु खत्रयता और बौद्धो की वेदना मे जैसा भासित हुआ, पर दु.ख की आत्यतिक निवृत्ति का मार्ग उद्‌घाटित करने मे न साँख्यो ने गिनना-गूँथना त्यागा और न बौद्धो का समुदाय ही अस्त रहा। वहाँ तो आशावाद जीवन का लक्ष्य सदा रहा। भारतीय काव्य को निवृत्ति मार्गी और कर्मफलासक्ति-त्याग की उपदेशिका गीता को विरक्तिमुखी समझने और कहने वाले भ्रम की माया में पडे हैं। उन्हे 'प्रवृत्तिलक्षण' श्चैव धर्मो नारायणात्मक., का भी विचार करना चाहिए। विदेशी विरहवाद से प्रभावित कबीर आदि सन्तो ने जगत् को दु खमय कह उसे त्यागने का निवृत्ति-परक पथ दिखाया तो प्रवृत्तिमार्गी सगुण-भक्ति-काव्य का ऐसा वेग फूटा कि जमता न जमता नैराश्य आप से आप बह गया। छायावादी युग मे भारतीय परम्परा के काव्यों ने नैराश्यवाद का ग्रहण नही किया। उनकी उक्तियाँ शौर्य से सवलित, क्रोध से सक्षुब्ध और स्नेह से सपृक्त सामने आयी, उनका काव्य देश का उद्धार न कर सकने का खेद अवश्य प्रकट करता है, पर भारतमाता को आश्वासन भी देता चलता है कि तेरी बेडियाँ काटकर ही दम लेगे। इन भारतीय-भावापन्न कवियो की व्यक्तिवादिनी मनोवृत्ति भी लोक-समन्वित रही है। अन्त मे उसका पर्यवसान लौकिक भावधारा में अवश्य हो गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय परम्परा के कवि आशावादी तो थे ही, यदि कभी व्यक्तिवादी भी होते थ ता लोकबद्ध भावभूमि पर ही। पर विदेशी प्रेरणा से भावित कविता नैराश्य-वादिनी थी, उसमे शुद्ध व्यक्तिवाद था, जिसका लोक से तो नही, हाँ कभी-कभी परलोक से गठबधन अवश्य हो जाता था।

यहाँ यह अर्थ न लगाया जाय कि प्रत्येक प्रवृत्ति के कवि छँटे-छटाए ही रहे हैं। पारस्परिक वृत्ति वाले कवियो मे अभारतीय प्रेरणा यदि आई भी है तो साहित्य के स्वाभाविक नियम के अनुसार छनकर, यहाँ के देशी रूप मे लीन होकर। इसलिए कहना यह उचित होगा कि वे उससे एक प्रकार से निर्लिप्त ही रहे। पर अभारतीय-प्रभावापन्नो मे भारतीयता तक का ग्रहण सहज न होकर आरोपित था। अधिक स्पष्ट कहना चाहे तो कहेगे कि वे हृदय के वेग से नही बुद्धि के बोध से इसे सकारते थे। उसकी लौकिकता मनोभिनिवेश की गम्भीरता नही, तर्क-प्रणाली का सकोच था। उनकी ऐसी वृत्ति अर्थ, राजनीति, समाज, धर्म सभी के सम्बन्ध मे थी, यहाँ तक कि प्रकृति के सम्बन्ध मे भी। हिन्दी के मध्ययुगीन कवि प्रकृति का उद्दीपक रूप ही लेने से कोसे गए हैं पर ये कवि तो ऐसे व्यक्तिवादी हो गए कि विदेशी कवियो के प्रकृति-राग से भी अनुरजित न हो सके। यह व्यक्तिगत प्रेम और रहस्य-दर्शन की प्रमुखता का ही परिणाम था। आश्चर्य कि परम्परा पालको ने तो किंचित् स्वच्छदता से प्रकृति का आलबनत्व स्वीकार किया, पर इन व्यक्तिवादियो ने नही, यद्यपि होना चाहिए था इसका विपर्यास। कारण भी स्पष्ट है। इनमे अकाल वैराग्य जागा, ये छद्म रहस्यदर्शी हो गए, काव्य के कर्त्ता न रहकर मत्र के द्रष्टा हो गए और 'सर्वे खल्विद' के बदले लगे केवल 'जगन्मिथ्या' का जप करने।

जैसा ऊपर कह आए हैं काव्यवस्तु इनके पास कुछ न थी या नाममात्र की थी। उक्ति का चमत्कार शून्य मे कहाँ तक टिकता। इससे अनेक प्रकार के बहिरग प्रदर्शनो की सूझी। कुछ समर्थ कवियो ने भावुकता की प्रकृत और गूढ अभिव्यजना के लिए नूतनता की केवल प्रेरणा से छदो का बधन ढीला किया, अनेक प्रकार के मेल से अच्छे-अच्छे छंदो के विधान का मार्ग खोला, छदो की मुक्ति तक पहुँच गए। फिर क्या था यही फैशन हो गया। छदोबद्ध रचना न जाने किस प्राक्तन युग से होती चली आ रही है, फिर भी उसमे सर्वत्र वैसी शिथिलता नही जैसी की आशका से छदो का बधन तोड डालने की महामहिम सलाह दिया करते हैं। मुक्त छदो मे भी विविधता के हेतु रचना हो, कोई हानि नही. पर उसके समर्थन मे यह कहना कि पद्य मे भावो के बैठने मे कठिनाई

होती है, कविकर्मपराड् मुखता के अतिरिक्त और क्या है। यदि छदो का बध वे सर्वत्र नही भी तोडते तो प्रायः मुक्तक लिखकर सरल छदाविधान से कामना-भर उसी का अभिधान करते है। प्रबन्ध की प्रवृत्ति इनमे जगती ही नही। पर भारतीयता से सम्बद्ध प्रातिभो मे प्रबन्ध की प्रवृत्ति भी जगी है, जगती है और जगेगी। राजशेखर के शब्दो मे पहले 'घटमान' मात्र है और दूसरे 'कविराज' भी। इसी से दूसरो की श्रेष्ठता प्रमाणित है। भारतीय काव्यधारा प्रबधमय रही है, भले ही हिन्दी के शृङ्गारकाल मे उसकी कमी हो गई हो। इस प्रकार वे जीवन-मुक्त है तो ये लोकबद्ध, वे मुक्तक के रसिक है, ये प्रबन्ध के विदग्ध; वे कोमल वृत्तिवाले हैं—शिरीष सुकुमार, ये 'वज्रदपि कठोराणि' और 'मृदूनि कुसुमादपि' दोनो। किसी दृष्टि से, किसी ओर से, किसी सच्चे मानदड से देखने पर भारतीय परम्परा के छाया-विधायको और अभारतीय-प्रभावापन्न छाया-दर्शियो मे स्पष्ट अन्तर है। समर्थता की दृष्टि से उत्तरवर्ती प्राथमिको से उत्तर क्या, उत्तम है। कदाचित् अब स्पष्ट हो गया हो कि क्यो कुछ लोग एक ही काव्यधारा को स्वदेशी विकास और दूसरी को विदेशी आरोपण कहते हैं, यद्यपि दोनो प्रकार की प्रवृत्तियो का कही-कही मिश्रण भी हो गया है, पर किसी प्रधान प्रवाह का प्रथक् कर लेना, थोडा ध्यान देने पर, कठिन नही है। औरो की क्या कथा, जब हिन्दी के प्रमुख छायावादियो मे भी इन प्रवृत्तियो के स्पष्ट और पृथक्-पृथक् दर्शन होते है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी
(१६६४ जन्म)

१३

वसंत आ गया है

जिस स्थान पर बैठकर लिख रहा हूँ उसके आस-पास कुछ थोडे-से पेड़ हैं। एक शिरीष है, जिस पर लम्बी-लम्बी सुखी छिम्मियाँ अभी लटकी हुई हैं। पत्ते कुछ झड गये हैं और कुछ झडने के रास्ते मे हैं। जरा-सी हवा चली नही कि अस्थिमालिका वाले उन्मत्त कापालिक भैरव की भाँति लड़खडाकर झूम उठते हैं—'कुसुम जन्म ततो नव पल्लवाः' का कही नाम—गन्ध भी नही है। एक नीम है। जवान है, मगर कुछ अयन्त छोटी किसलयिकाओ के मिवा उमंग का कोई चिन्ह उसमें भी नही है। फिर भी यह बुरा मालूम नही होता। मसे भीगी हैं और आशा तो है ही। दो कृष्णाचूडाएँ हैं। स्वर्गीय कविवर रवीन्द्रनाथ के हाथ से लगी वृक्षावलि मे ये आखिरी हैं। इन्हे अभी शिशु ही कहना चाहिए। फूल तो इनमे कभी आये नही, पर वे अभी नादान हैं। भरे फागुन मे इस प्रकार खडी है मानो आषाढ ही हो। नील मसृण पत्तियाँ और सूच्यग्र शिखान्त। दो-तीन अमरूद हैं, जो सूखे सावन भरे भादों कभी रग नही बदलते—इस समय दो-चार श्वेतपुष्प इन पर विराजमान हैं, पर ऐसे फूल माघ में भी थे और जेठ मे भी रहेगे। जानी पुष्पो का एक केदार है, पर इन पर ऐसी मुर्दनी छाई हुई है कि मुझे कवि प्रसिद्धियो पर लिखे हुए एक लेख में सशोधन की आवश्यकता महसूस हुई है। एक मित्र ने अस्थान में एक मल्लिका का गुल्म भी लगा रखा है, जो किसी प्रकार बस जी रहा है। दो करबीर और एक कोविदार झाड भी उन्ही मित्र की कृपा के फल है, पर वे बुरी तरह चुप हैं। कही भी उल्लास नही, उमग नही, और उधर कवियो की दुनिया में हल्ला

हो गया, प्रकृति-रानी नया शृङ्गार कर रही है, और फिर जाने क्या-क्या। कवि के आश्रय मे रहता हूँ। नितान्त ठूठ नही हूँ। पर भाग्य न प्रसन्न न हो तो कोई क्या करे ? दो काचनार वृक्ष इस हिन्दी-भवन मे है। एक ठीक मेरे दरवाजे पर और दूसरा मेरे पडोसी के। भाग्य की विडम्बना देखिए कि दोनो एक ही दिन मे लगाये गये है। मेरा वाला ज्यादा स्वस्थ और सबल है। पडोसी वाला कमजोर, मरियल। परन्तु इसमे फूल नही आये और वह कम्बख्त कधे पर से फूल पडा है। मरियल सा पेड है, पर क्या मजाल कि आप उसमे फूल के सिवा और कुछ देखे ! पत्ते है ही नही और टहनियाँ फूलो से ढँक गई हैं। मै रोज देखता हूँ कि हमारे वाले मियाँ कितने अग्रसर हुए। कल तीन फूल निकले थे। उनमे से दो तो एक सथाल-बालिका तोडकर ले गई। एक रह गया। मुझे काचनार फूल की ललाई बहुत भाती है। सबसे बडी बात यह है कि इन फूलो की पकौडियाँ भी बन सकती है। पर दुर्भाग्य देखिए कि इतना स्वस्थ पेड ऐसा सूना पडा हुआ है और वह कमजोर दुबला लहक उठा है। कमजोरो मे भावुकता ज्यादा होती होगी।

पढता-लिखता हूँ। यही पेशा है। सो दुनिया के बारे मे पोथियो के सहारे ही थोडा बहुत जानता हूँ। पढा हूँ, हिन्दुस्तान के जवानो मे कोई उमग नही है, इत्यादि-इत्यादि। इधर देखता हूँ कि पेड-पौधे और भी बुरे है। सारी दुनिया मे हल्ला हो गया कि वसन्त आ गया। पर इन कम्बख्तो को कोई खबर ही नही ! कभी-कभी सोचता हूँ कि इनके पास तक सदेशा पहुँचाने का क्या कोई साधन नही हो सकता ? महुआ बदनाम है कि उसे सबके बाद वसन्त का अनुभव होता है, पर जामुन कौन अच्छा है ! वह तो और भी बाद मे फूलता है ! और कालिदास का लाडला यह कर्णिकार ? आप जेठ मे मौज मे आते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि वसन्त भागता-भागता चलता है। देश मे नही, काल मे। किसी का वसन्त पन्द्रह दिन का है तो किसी का नौ महीने का। मौजी है अमरूद। बारह महीने इसका वसन्त-ही-वसन्त है। हिन्दी-भवन के सामने गधराज पुष्पो की पाँत है। ये अजीब हैं, वर्षा मे ये खिलते हैं, लेकिन ऋतु-विशेष के उतने कायल नही है। पानी पड गया तो आज भी फूल ले सकते हैं।

कवियो की दुनिया मे जिसकी चर्चा नही हुई, ऐसी एक घास है—विष्णुकान्ता । हिन्दी-भवन के आँगन मे बहुत है। कैसा मनोहर नाम है! फूल और भी मनोहर होते हैं। जरा-सा तो आकार होता है, पर बलिहारी है उस नील मेदुर रूप की। बादल की बात छोडिए, जरा-सी पुरवैया बह गई तो इसका उल्लास देखिए। बरसात के समय तो इतनी खिलती है कि मत पूछिए। मै सोचता हूँ कि इस नाचीज लता को सदेश कैसे पहुँचता है? थोडी दूर पर वह पलास ऐसा फूला है कि ईर्ष्या होती है। मगर उसे किसने बताया कि वसन्त आ गया है? मैं थोडा-थोडा समझता हूँ। वसन्त आता नही, ले आया जाता है। जो चाहे और जब चाहे अपने पर ले आ सकता है। वह मरियल काचनार ले आया है। अपने मोटेराम तैयारी कर रहे हैं। और मै?

मुझे बुखार आ रहा है। यह भी नियति का मजाक ही है। सारी दुनिया मे हल्ला हो गया है कि वसन्त आ रहा है, और मेरे पास आया बुखार। अपने काचनार की ओर देखता हूँ और सोचता हूँ, मेरी ही वजह से यह नही रुका है?

नगेन्द्र नगाइच
(१९७२ जन्म)

१४

साहित्य में आत्माभिव्यक्ति

कुछ वर्ष हुए एक प्रगतिवादी मित्र ने मुझ पर अनेक आरोपो के साथ एक आरोप यह भी लगाया था कि मैं साहित्य मे सामाजिक गुणो का विरोध करता हुआ अहवाद का पोषण करता हूँ।······आज उसी को लेकर जब मैं आत्म निरीक्षण करने बैठता हूँ तो एक प्रश्न मेरे मन मे अनिवार्यतः उठता है :— साहित्य का मूल धर्म क्या है ? और अनेक पण्डित मित्रो की विरोधी युक्तियो के बावजूद भी इसका उत्तर अब भी मेरे पास एक ही है : 'आत्माभिव्यक्ति'। जैसा कि मैं अनेक प्रसगो मे अनेक प्रकार से व्यक्त करता आया हूँ, आत्माभिव्यक्ति ही वह मूल तत्व है जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है। विचार करने के बाद ससार मे केवल दो तत्वो का ही अस्तित्व अत मे मानना पड जाता है—आत्म और अनात्म। इस मान्यता का विरोध दो दिशाओ से हो सकता है—एक अद्वैतवाद की ओर से और दूसरा भौतिकवाद (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) की ओर से। अद्वैतवाद प्रकृति अथवा अनात्म को भ्रम कहता है। और भौतिकवाद आत्म को प्रकृति की ही उद्भूति मानता हुआ उसकी स्वतत्र सत्ता स्वीकार नहीं करता। परन्तु वास्तव मे यह दोनों ही दर्शन की चरम स्थितियाँ हैं—और व्यवहारिक तल पर दोनो ही उपर्युक्त द्वैत को स्वीकार लेते हैं। अद्वैतवाद साधना और व्यवहार के लिए जीवन और जगत् की महत्ता को अनिवार्यतः स्वीकार कर लेता है। और उधर भौतिकवाद भी, आत्मा को चाहे वह कितना ही भौतिक और अपृथक् क्यो न माने, व्यवहारिक जीवन मे व्यक्ति और वातावरण के पार्थक्य

को तो मानता ही है। साहित्य का सबध दार्शनिक अतिवादो से न होकर जीवन से है, अतएव उसके लिए यह द्वैत-स्वीकृति अनिवार्य है चाहे आप इसे 'जीव और प्रकृति' कह लीजिए या 'व्यक्ति और वातावरण'। परन्तु ये केवल भिन्न-भिन्न नाम है, मैं और मेरे अतिरिक्त और जो कुछ है उसको व्यक्त करना ही इनकी सार्थकता है। 'आत्म और अनात्म' चूँकि इनमे सबसे कम पारिभाषिक हैं इसलिए हमने इन्हे ही जीव और जगत्—आध्यात्मिक मनोविज्ञान मे अह और इत्थ, विज्ञान मे व्यक्ति और वातावरण कहा है। एक तीसरा तत्व ईश्वर भी है और मेरा सस्कारी मन उसके अस्तित्व का निषेध करने को प्रस्तुत नही है, परन्तु उसको मैं आत्म से पृथक् वस्तु रूप मे नही ग्रहण कर पाता। आत्म सतत प्रयत्नशील है—वह अनात्म के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करने का सतत प्रयत्न करता रहता है—इसी को हम जीवन कहते हैं। अनात्म अनेक रूप वाला है—उसी के विभिन्न रूपो के अनुसार यह प्रयत्न भी अनेक रूप धारण करता रहता है—दूसरे शब्दो मे आत्माभिव्यक्ति के भी अनेक रूप होते हैं। इनमे आत्म की जो अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ के द्वारा होती है उसका नाम साहित्य है। जब हम अपनी इच्छा को कर्म मे प्रतिफलित कर पाते हैं तो हमें कर्म द्वारा आत्माभिव्यक्ति का आनन्द मिलता है। मै जो चाहता हूँ वह कर रहा हूँ—यह कर्म द्वारा आत्माभिव्यक्त है—इसमे विशेष भौतिक व्यवहारो के द्वारा मैं आत्म का प्रतिसवेदन का आस्वादन कर रहा हूँ। इसी प्रकार जब हम अपने अनुभव को शब्द और अर्थ द्वारा अभिव्यक्ति कर पाते हैं तो हमे एक दूसरे माध्यम के द्वारा आत्माभिव्यक्ति का आनन्द मिलता है। यह माध्यम पहले की अपेक्षा स्पष्टतः ही अधिक सूक्ष्म और सीधा भी है—सीधा इसलिए है कि हमारा अनुभव बिना शब्द-अर्थ की पकड में आये कोई रूप ही नहीं रखता—जब तक वह शब्द और अर्थ की पकड में नही आता, उसका अस्तित्व सवेदन से पृथक् कुछ भी नही है—उसका वैशिष्ट्य तभी व्यक्त होता है वह शब्द और अर्थ मे बध जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि अनुभव को शब्द-अर्थ-रूपी माध्यम की अनिवार्य अपेक्षा रहती है—इच्छा और कर्म का संबध अनिवार्य नही है, परन्तु अनुभव और शब्द-अर्थ का सबन्ध सर्वथा अनिवार्य है।

दूसरा प्रश्न स्वभावत: यह उठता है कि आत्माभिव्यक्ति का पूरा मूल क्या है—लेखक के अपने लिए उसकी क्या सार्थकता है और दूसरो के लिए उसका क्या उपयोग है। तो, जहाँ तक लेखक का सम्बन्ध है, आत्माभिव्यक्ति की सार्थकता उसके आत्म-परितोष मे है—काव्य शास्त्रो ने जिसे सृजन-सुख कहा है। अपने पूर्णता के साथ अभिव्यक्त करना—चाहे वह कर्म के द्वारा हो अथवा वाणी द्वारा, या किसी भी अन्य उपकरण के द्वारा हो, व्यक्तित्व की सबसे बडी सफलता है। वाणी मे कर्म की अपेक्षा स्थूलता और व्यावहारिकता कर्म तथा सूक्ष्मता और आतरिकता अधिक होती है, अतएव वाणी के द्वारा जो आत्माभिव्यक्ति होगी उसके आनन्द मे सूक्ष्मता और आतरिकता स्वभावत: ही अधिक होगी—दूसरे शब्द मे यह आनन्द अधिक परिष्कृत होगा। अत: निष्कर्ष यह यह निकला कि यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को एक सूक्ष्मतर परिष्कृत आनन्द प्रदान करती है। मुझ जैसे व्यक्ति को तो, जो आनन्द को जीवन की चरम उपयोगिता मानता है, उसके आगे और कुछ पूछना नही रह जाता। परन्तु उपयोगितावादी यहाँ भी प्रश्न कर सकता है कि आखिर इस परिष्कृत आनन्द की ही ऐसी क्या उपयोगिता है। इसका उत्तर यह है कि इसके द्वारा लेखक के अह का सस्कार होता है—उसकी वृत्तियो मे कोमलता, शक्ति, सामजस्य, सूक्ष्म-ग्राहकता, अनुभूति-क्षमता, आदि गुणो का समावेश होता है और उसका व्यक्तित्व समृद्ध होता है। शब्द और अर्थ अत्यन्त आतरिक उपकरण है, उनके द्वारा जो सफल आत्माभिव्यक्ति होगी, उसमे निश्छलता अनिवार्यत: वर्तमान रहेगी (क्योकि बिना उसके आत्माभिव्यक्ति सफल हो ही नही सकती)—और उपयोगिता की दृष्टि से निश्छलता मानव-मन की प्रमुख विभूतियो मे से है। अन्य गुण तो बहुत कुछ व्यक्ति सापेक्ष हो सकते है—अर्थात् कवि के अपने व्यक्तित्व के अनुसार न्यूनाधिक हो सकते हैं, परन्तु निश्छलता प्रत्येक दशा मे साहित्यगत आत्माभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य होगी—अतएव उपयोगिता की दृष्टि से भी बडी सरलता से यह कहा जा सकता है कि यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को चाहे उसमें कैसे ही दुर्गुण क्यो न हो अपने प्रति ईमानदार होने का सुख देती है, और इस प्रकार अनिवार्य रूप से उसके व्यक्तित्व का सस्कार करती है।

यही एक और शका का समाधान कर लेना उचित होगा—वह यह कि कही इस आत्माभिव्यक्ति के द्वारा अहकार का पोषण तो नही होता। इसके उत्तर मे मेरा निवेदन है कि अहकार और अह दो भिन्न वस्तुएँ है—अहकार जहाँ स्वभाव का एक दोष है वहाँ अह समस्त वृत्तियों की समष्टि का नाम है—जिसे दूसरे शब्दो मे आत्म भी कहते है। साहित्यगत आत्माभिव्यिक्त जीवन की सभी सक्रियाओ की भाँति अह अर्थात् आत्म का पोषण तो निश्चय करती है, परन्तु अहकार का पोषण उसके द्वारा सभव नही, क्योकि उसके लिए जैसा कि मैंने अभी कहा, निश्छलता अनिवार्य है। निश्छल आत्माभिव्यक्ति आत्म-साक्षात्करण के क्षणो मे ही सभव हो सकती है और आत्म-साक्षात्कार मे दभ के लिए स्थान कहाँ। अभिनव ने इसीलिए इस को उत्तम प्रकृति कहा है और उसके लिए तमोगुण और रजोगुण के ऊपर सतोगुण का प्राधान्य आवश्यक माना है। उस दिन इसी विषय पर श्री जैनेद्रकुमार से बातचीत हो रही थी। उनका कहना था कि साहित्यकार का अह स्वभावतः अत्यन्त तीव्र होता है—यहाँ तक कि वह उसके मारे परेशान रहता है। साहित्य सर्जन द्वारा वह इसी अह से मुक्ति पाने का प्रयत्न करता है—अपनी सृष्टि मे वह इस अह (अहकार के नीचे दबी हुई पीडा को व्यक्त करता हुआ अपने को घुला देने का प्रयत्न करता है। साहित्य अपने शुद्ध रूप मे अह का विसर्जन है। जैनेन्द्र जी के चिंतन पर गाँधी की—अथवा और व्यापक रूप में लीजिए तो सतो की आत्मपीडनमयी चिंताधारा का प्रभाव है, इसलिए उन्होने आघ्यात्मिक शब्दावली—'अह का विसर्जन' का प्रयोग किया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह विसर्जन वास्तव मे 'अह' का सस्कार ही है—इसके द्वारा अहकार का पूर्ण विसर्जन होकर अन्त मे अत्यन्त सूक्ष्म रीति से अह—अर्थात् आत्म का उन्नयन ही होता है। आत्म के इस गोपन मे आत्म का दर्शन प्राप्त होता है। प्रेम की चरम स्थिति मे, जहाँ वासना सर्वथा अभुक्त रहती है, सपूर्ण और आत्म समर्पण की सभावना है इसमे सदेह नही—भक्त का भगवान् के प्रति पूर्ण आत्म निवेदन वैष्णव साहित्य की अत्यन्त परिचित घटना है। परन्तु इस आत्म समर्पण अथवा निवेदन मे अह का विनाश नही है—प्रेमी अथवा भक्त अपने अह को प्रेम पात्र

अथवा इष्टदेव मे प्रक्षिप्त कर उससे तदाकार होता हुआ अत मे फिर उसे आत्मलीन कर लेता है। आत्म का यह सस्कार समष्टि के प्रेम मे और भी प्रत्यक्ष हो जाता है—रागात्मिका वृत्ति को व्यष्टि के सकुचित वृत्त से निकाल कर समष्टि की ओर प्रेरित करने से स्वभावतः ही उसका विस्तार हो जाता है।* यहाँ अह समाज के सम्मिलित अह से तद्रूप हो जाता है। इस प्रकार व्यक्ति जितना देता है उससे बहुत अधिक प्राप्त कर लेता है। यह ठीक है कि अधिक पाने के लोभ से प्रयत्न पूर्वक वह आत्मदान नही करता—परन्तु इससे हमारी धारणा मे बाधा नही पडती हमारा निवेदन केवल यही है कि इस प्रकार अत मे आत्म का लाभ ही होता है, हानि नही।

अब प्रश्न का दूसरा अश लीजिए, लेखक की इस आत्माभिव्यक्ति का दूसरो अर्थात् समाज के लिए क्या उपयोग है। पहला उपयोग तो यही है कि सहानुभूति के द्वारा सामाजिक को उससे परिष्कृत आनन्द उनकी सवेदनाओं को समृद्ध करता हुआ उनके व्यक्तियो को समृद्ध बनाता है—जीवन मे रस उत्पन्न करता है, पराजय और क्लाति की अवस्था मे शाति और माधुर्य का सचार करता है। इस प्रकार की निश्छल आत्माभिव्यक्तियो ने सामाजिक

*परन्तु यह भूमि अपेक्षाकृत कठिन है—व्यष्टि गत प्रेम जितना सहज और सुलभ है, उतना समष्टिगत प्रेम नही हैं। इसमे आत्म प्रवञ्चना एव प्रदर्शन के लिए स्थान अधिक है—इसलिए नेता लोग आत्म का सस्कार करने की अपेक्षा प्राय. अहकार का सवर्धन कर लेते हैं। देश और समाज के बडे-बडे नेता पुष्कल यश और योग्यता के होने पर भी प्रायः उत्तम साहित्य की सृष्टि मे असफल रहते हैं, और एक साधारण, अपने मे खोया हुआ व्यक्ति उसमे सफल हो जाता है। उसका कारण यही हैं कि नेता के जीवन मे प्रदर्शन के अवसर अधिक और आत्म साक्षात्कार के क्षण विरल होते हैं, और ऊपर से असामाजिक दिखने वाले इस व्यक्ति को अपने प्रति ईमानदार और निश्छल होने के क्षण अधिक मिलते रहते है। किसी वृहत् आदोलन को लेकर खडे होने वालो को स्थिति इनसे भी अधिक जटिल है—क्योकि उसमें सिद्धान्त की बौद्धिकता और उसके साथ प्रदर्शन का मोह भी अधिक रहता है।

चेतना का कितना सस्कार किया है, इसका अनुमान लगाना आज कठिन है। हिन्दी की रीति कविता को ही लीजिए।

आज उसे प्रतिक्रियावादी कविता कहकर लाँछित किया जाता है, और एक दृष्टि से आरोप सर्वथा उचित भी है, परन्तु उसके मधुर छदो ने पराभव-मूढ समाज की कोमल वृत्तियो को सरस रखते हुए उसको जडता को दूर करने मे अत्यन्त महत्वपूर्ण योग दिया था, इसका निषेध क्या आज कोई समाज-शास्त्री कर सकता है। बडे-बडे लोक नायको ने अपने सघर्षक्लात मनो को इसी की सजीवनी से सरस किया है। लेनिन जैसे समष्टिवादी नेता पर पुश्किन की वैयक्तिक अभिव्यक्तियो का कितना गहरा प्रभाव था, इसको वह स्वय लिख गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि लेखक की निश्छल आत्माभिव्यक्ति के द्वारा जो परिष्कृत आनन्द प्राप्त होता है वह स्वय एक बड़ा वरदान है—नैतिक एव सामाजिक मूल्य से स्वतन्त्र भी उसका एक स्वतन्त्र महत्व है, जिसको तुच्छ समझना स्थूल बुद्धि का परिचय देना है।

परन्तु मैं नैतिक एव सामाजिक मूल्य का निषेध नही करता। जीवन मे नीति और समाज की सत्ता अतर्क्य है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, सामूहिक हित उसके अपने व्यक्तिगत हितो से निश्चय ही अधिक प्रबल है। समाज के सगठन और हितो की रक्षा करने वाले नियमो का सकलन ही नीति है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी अपेक्षा करनी होगी। लेखक मनुष्य-रूप मे समाज का अविभाज्य अग है—साधारण व्यक्ति की अपेक्षा उसमे प्रतिभा अधिक है अतएव उसी अनुपात से उसका दायित्व भी अधिक है। जिस समाज ने उसे जीवन के उपकरण दिये, बौद्धिक और भावगत परम्पराएँ दी उसका ऋण-शोध करना उसका धर्म है। इससे स्वार्थ-साधना की सकुचित भूमि से उठकर उसके अह का उन्नयन और विस्तार होता है और इस प्रकार उसको अभ्युदय और नि:श्रेयस्, दोनो की ही सिद्ध होती है। परन्तु ये सब तर्क नैतिक है, साहित्यिक नही। उपर्युक्त कर्तव्य-निर्णय सामाजिक का है, लेखक का नही। और स्पष्ट शब्दो मे, सामाजिक के रूप मे लेखक निस्सदेह उपर्युक्त दायित्व से बँधा हुआ है—और उसके निर्वाह मे यदि त्रुटि करता है तो वह नैतिक दृष्टि से अपराधी

है, परन्तु लेखक के रूप मे उसके ऊपर इस प्रकार का बन्धन नही है, लेखक रूप मे उसका दायित्व केवल एक है—निश्छल आत्माभिव्यक्ति। समाज का तिरस्कार करने से उसके आत्म की क्षति होगी और उसी अनुपात से उसके साहित्य के वस्तु-तत्व की भी हानि होगी, परन्तु जब तक वह निश्छल आत्माभिव्यक्ति करता रहेगा, उसकी कृति मूल्यहीन नही हो सकती। क्योकि निश्छलता का सात्विक आनन्द वह तब भी अपने को और अपने समाज को दे सकेगा। इसी तथ्य को दूसरे प्रकार से भी प्रस्तुत किया जा सकता है। एक व्यक्ति है जो सामाजिक दायित्व के प्रति अत्यन्त सचेत है—वैयक्तिक स्वार्थ-साधन को छोड, समाज सेवा मे ही वह अधिकाश समय व्यतीत करता है, उसका व्यक्तित्व बहुत कुछ सामाजिक एव सार्वजनिक हो गया है। समाज के लिए उसने बहुत कुछ बलिदान किया है, उसकी आवाज मे शक्ति है। और मान लीजिए, यह व्यक्ति लेखक भी है। परन्तु यह आवश्यक नही है कि उसका साहित्य एक दूसरे व्यक्ति के साहित्य से, जिसके व्यक्तित्व मे सामाजिक गुण नही है, अनिवार्यत: उत्कृष्ट होगा। उत्कृष्ट होने के लिए उसमे एक और गुण होना चाहिए—निश्छल आत्माभिव्यक्ति। आत्माभिव्यक्ति के दो अग है—एक आत्म और दूसरा उसकी निश्छल अभिव्यक्ति। इनमे भी निश्छल अभिव्यक्ति अधिक महत्वपूर्ण है, क्योकि उसके बिना कृति को साहित्य होने का गौरव ही नही मिल सकता। आत्म भी कम महत्वपूर्ण नही है। अभिव्यक्ति की निश्छलता समतुल्य होने पर आत्म की गरिमा ही सापेक्षिक महत्व का निर्णय करेगी। वास्तव मे महान् साहित्य की सर्जना उसी लेखक के लिए सम्भव है जिसका आत्म महान् हो। जब तब उसका अह महान् अर्थात् उन्नत, व्यापक और गम्भीर नही है, तब तक उसकी कृति महान् नही बन सकती—मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि अह का यह उन्नयन, विस्तार और गांभीर्य, व्यष्टि-वृत से निकल कर समष्टि के साथ तादात्म्य करने से ही बहुत कुछ सम्भव है। (विश्व-कवियो के जीवन मे इस प्रकार का तादात्म्य सदैव रहा है।) परन्तु इस विषय मे मेरे दो निवेदन है—एक तो यह कि इतना सब कुछ होते हुए भी अभिव्यक्ति की निश्छलता ही साहित्य का पहला और अनिवार्य लक्षण है। महान् व्यक्तित्व के अभाव में कोई

कृति महान् साहित्य नही हो सकती, पर निश्छल अभिव्यक्ति के अभाव मे तो वह साहित्य ही नही रहती, केवल व्यक्तित्व की महत्ता उसे साहित्य का गौरव नही दे सकती। दूसरा यह कि व्यक्तित्व की महत्ता अर्थात् उसका विस्तार और गाभीर्य, जीवन के महत्तर मूल्यो के साथ तादात्म्य करने से प्राप्त होते है, और यह महत्तर मूल्य अन्त मे बहुत कुछ समष्टि-गत मूल्य ही होगे, यह ठीक है। परन्तु इनका निर्णय स्थूल दृष्टि से वाह्य (सामाजिक और राजनीतिक) आदोलनो को सामने रखकर नही करना होगा, वरन् व्यापक और सूक्ष्म धरातल पर देश और काल की सीमाओ को तोडकर बहती हुई अखड मानव-चेतना के प्रकाश मे ही करना होगा। प्रत्येक युग और देश अपनी समस्याओ मे खोया हुआ, इस सत्य का विस्तार कर सामयिक आवश्यकताओ के अनुसार साहित्य पर भी अधकचरे निर्णय देता रहा है, परन्तु इतिहास साक्षी है कि ये निर्णय अस्थायी हो रहे हैं। सामयिक आवश्यकताएँ पूरी हो जाने पर उस अखड मानव-चेतना ने तुरन्त ही अपनी शक्ति का परिचय दिया है, और उन निर्णयो मे उचित सशोधन कर दिया है। समय ही साहित्य का सबसे बडा आलोचक है, यह मान्यता उपर्युक्त तथ्य की ही स्पष्ट स्वीकृत है। यहाँ अखड मानव-चेतना की बात सुनकर शायद आप चौक उठे परन्तु मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यह बडा निर्दोष शब्द है, इसके द्वारा मै किसी आध्यात्मिक तत्व की ओर रहस्य सकेत नही कर रहा। एक युग और एक देश की चेतना से भिन्न जो युग-युग और देश-देश की व्यापक चेतना है उसी से मेरा अभिप्राय है। ऐसी चेतना आध्यात्मिक रहस्य न होकर एक भौतिक तथ्य ही है।

पारिभाषिक शब्दावली की सहायता लेकर कहा जा सकता है कि एक युग और देश की चेतना का सम्बन्ध राजनीतिक अथवा सामाजिक नैतिक मूल्यो से है, और युग-युग तथा देश-देश की चेतना का सम्बन्ध मानवीय मूल्यो से है। इन दोनो मे साधारणत कोई विरोध नही है, वास्तव मे मानवीय मूल्यो मे सामाजिक नैतिक मूल्यो का अतर्भाव हो जाता है। परन्तु विशेष परिस्थितियो में यदि विरोध हो भी जाय तो मानवीय मूल्य ही अधिक विश्वसनीय माने जायेंगे।

भगीरथ मिश्र

(१६७२ जन्म)

१५

साहित्यिक अभिरुचि

आजकल जब हम साहित्यिक अभिरुचि पर विचार करने बैठते है तो सहज ही एक प्रश्न सामने उठ खडा होता है कि साहित्य का आजकल के समाज मे क्या मूल्य है ? उसकी आवश्यकता हमारे जीवन मे क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर मे हम अनेक लेखो की ओर, जो साहित्य की महत्ता पर लिखे गये हैं, सकेत कर सकते है, साथ ही इतिहास के ऐसे युगो को बता सकते हैं जिनका महत्व उस युग के साहित्य पर ही आधारित है। साहित्य-रचना की भी कमी हमारे युग मे नही है, फिर भी साहित्य का कोई विशेष प्रभाव हमारे समाज के जनसमुदाय पर दिखाई नही पडता। साहित्य के लिए एक प्रकार की ललक जन-जन में नही जगती। बहुत दिनो तक उससे छूते रहने पर भी उसके लिए मनुष्य आतुर नही होता। इसका क्या कारण है ? कुछ लोग इसका कारण, आधुनिककालीन विशिष्ट राजनैतिक, सामाजिक और विशेष रूप से आर्थिक, परिस्थितियो के भीतर ढूढेगे, और किसी सीमा तक ये परिस्थितियाँ कारण रूप है भी, परन्तु जब हम पिछले युगो मे साधारणजनो की दीन-हीन दशा के बीच भी साहित्य के प्रति एक ललक पाते हैं, तब हमे यही कहना पडता है कि इसका यथार्थ कारण साहित्यिक अभिरुचि का अभाव है। युगो से जीती-जागती हमारी साहित्यिक अभिरुचि आजकल कुठित हो गई है।

यहाँ पर साहित्य से मेरा तात्पर्य स्थायी साहित्य से है जिसकी उपयोगिता के विषय मे भर्तृहरि ने कहा है—"साहित्य सगीत कला-विहीन । साक्षात्पशु-पुच्छविषाणहीनः।" इस प्रकार के साहित्य के प्रति अभिरुचि का व्यापक अभाव

सा होने के कारण, समाज का सवेदनात्मक स्तर धीरे-धीरे गिरता जाता है, उसकी मानसिक वृत्तियाँ पूर्ण रीति से पनप नही पाती और उसका शारीरिक, मानसिक और आत्मिक जीवन अस्वस्थ और अल्प होता जा रहा है।

कहने के लिए आजकल समाचारपत्रो के पढने का चाव बहुत अधिक बढ रहा है, पर उसकी मूल प्रेरणा जिज्ञासा की तृप्ति मात्र होती है। ज्ञान-भडार बढाने का भी उद्देश्य न होकर, जिज्ञासा को बुझाना मात्र ही इसका ध्येय रह गया है। जानकारी बढाकर सामूहिक रूप से कार्य करने की क्षमता भी बहुत कम देखने को मिलती है। उसका भी कारण हमारे भीतर समवेदना—सहानुभूति का अभाव है, जिसके रहते हमारे भीतर सामूहिक रूप से कार्य-प्रेरणा जाग्रत नही होती। समवेदना को विकसित करने वाला हमारा 'स्थायी साहित्य' होता है। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि सम्मानपूर्वक स्वस्थ जीवन व्यतीत करने के लिए साहित्य-सेवन आवश्यक है। इसके द्वारा हमारे भीतर एक समान सोचने-समझने की शक्ति उत्पन्न होती है, एक-सी अनुभूति का सचार होता है और हमारा सामाजिक जीवन एक सूत्र मे बँधकर, अधिक सस्कृत होता जाता है। अत साहित्यिक अभिरुचि को हम जितना ही तीव्र रखते हैं, हमारा जीवन उतना ही मधुर और आनन्ददायी होता है।

साहित्य या काव्य हमे जीवन-यापन की कला बताता है; जीवन के भीतर का सौन्दर्य खोलकर रख देता है। युगो के सदेश को प्रेम रूप मे उपस्थित करके विना प्रयास बता देता है कि भटकने की आवश्यकता नही, जीवन का मधुर मार्ग यह है। किन्तु हम यह सब भूल सकते है जब कि हमारी साहित्यिक अभिरुचि कुठित हो जाती है। हम जानते है कि जीवन के साथ खिलवाड़ करने या प्रयोग करने भर को ही समय हमारे एक जीवन मे नही है। अतः हम आग की उष्णता और विष की मारणशीलता आग मे हाथ डालकर या विषपान करके नही सीखगे, वरन् परम्परा से आये ज्ञान और अनुभूति को ग्रहण करके सुखद और दु.खद के विवेकी बनेगे। क्या हम यह साहित्यिक अभिरुचि के विकास के बिना कर सकते है ?

साहित्य-सेवन हमारी अनुभूति का परिष्कार करता है। यही कारण है,

कि परिष्कृतअनुभूति वाले व्यक्ति अनजाने और कभी-कभी अनचाहे ही साहित्यिक बन जाते है। कबीर और निर्गुण सन्तो के अन्तर्गत साहित्यिक बनने की कोई आकाक्षा न थी, पर वे अपनी परिष्कृत अनुभूति के कारण अनचाहे कवि बन बैठे। फिर, धनधान्य के समृद्ध होकर और दैनिक चिन्ताओ से मुक्त होकर ही साहित्य का सेवन और सृजन किया जाता है, इसमे भी सत्यता नही। बडे-बडे निर्धनो, अकिंचनो ने जो साहित्यिक सृष्टि की है, वह इस बात का प्रमाण है। दैनिक चिन्ताएँ तो जीवन के साथ है, उनके कारण हम जीवन का आनन्द छोड दे, तो बात दूसरी है। साहित्य का सेवन हमारे दैनिक श्रमशील तथा नीरस जीवन को भी सरस और सानन्द कर सकता है। हम आज शिक्षा की व्यापकता का दम भरते हैं, पर इसके पूर्व साधारण लोगो के भीतर जो साहित्यिक अभिरुचि थी, वह आजकल हमे ढूंढने से भी नही मिलती। आधुनिक सभ्यता से अछूते तथा बडे नगरो से दूर, गावो मे अब भी पुरानी साहित्यिक अभिरुचि से सम्पन्न लोग मिल सकते है, यदि उनके गाँव मे एक भी साहित्यिक, कवि या साहित्य-सेवी निवास करता है, पर इतने बडे साहित्य भडार के बीच, नगर के लोगो मे साहित्यिक अभिरुचि उस कोटि मे देखने को नही मिलती। यह कथन देखने मे कुछ उलटा सा जान पडता है, पर यदि यथार्थवादी दृष्टि से देखा जाय, तो हम इसके भीतर सत्य पावेगे।

अब हम इसके दूसरे पक्ष पर विचार करे। हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि तो क्या साहित्यिक अभिरुचि, मानव जीवन के लिए कृत्रिम और अस्वाभाविक है? और साहित्यिक और कवि-समाज अपनी रचनाओ द्वारा, कृत्रिम वायुमडल मे ही मानव-समाज को रख रहा है? यदि ऐसा है तो सचमुच साहित्य के दिन इने-गिने हैं। पर गभीरता-पूर्वक विचार करने से पता चलता है कि तथ्य इसके विपरीत है। साहित्य के अन्तर्गत, बहुत सी अस्वाभाविकताएँ आई, सहज-जीवन को कृत्रिम बनाने का प्रयत्न हुआ, पर यह साहित्य-विशेष की प्रवृत्ति थी। साहित्यिको या कवियो के विशेष सम्प्रदाय या वर्ग ने उन्हे यह रूप प्रदान किया, अन्यथा काव्य का स्वाभाविक और सहज रूप, कवि और काव्य-सेवी दोनो के लिए ही एक सहज-व्यापार

है। काव्य का प्रादुर्भाव "मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वतीसमा" के गायक के सहज स्वाभाविक और समवेदनापूर्ण उद्गार के रूप मे हुआ है। साहित्य जहाँ विद्वानो, प्रतिभा-सम्पन्नो, साधको, अभ्यासशीलो की सम्पत्ति बना, वही उसका दूसरा रूप जो लोक-गीतो, जन-साहित्य, आदि के रूप मे मिलता है, वह स्वाभाविक उद्गार के रूप मे ही है। अत. साहित्य, रचयिता के दृष्टिकोण की एक स्वाभाविक क्रिया है, कृत्रिम नही। इन स्वाभाविक उद्गारो के द्वारा जन-सामान्य के सुख-दु.ख, हर्ष-विषाद, करुणा-दया, उत्साह-भय, क्रोध-घृणा, विलास-त्याग आदि के सहज भाव अभिव्यक्त होते हैं। ऐसी दशा मे जब तक मानव इन भावनाओ से सयुक्त है, तब तक इस प्रकार के उद्गारो मे सभी को आनन्द मिलेगा।

साहित्य-सेवन भी उतना ही मानव जाति के लिए स्वाभाविक है जितना साहित्यसृजन। साहित्य या काव्य की रचना एक स्वाभाविक क्रिया है, यह एक और बात से सिद्ध है, ससार के सभी साहित्यकार शास्त्र-पारंगत, शिक्षित और विद्वान् पुरुष ही नही हुए, वरन् अशिक्षित, अनभिज्ञ लोगो के अपनी तीव्रानुभूति के सहज-उद्गार भी काव्य का रूप धारण कर चुके हैं। लोक-गीतो में एक से एक सुदर भाव वाले गीत हैं, कुछ तो ऐसे हैं जिनके समान पूर्ण प्रभावोत्पादक, कोई भी अकेला पद आज तक मुझे प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थो मे नही मिला। ये गीत सहज रीति से अकुरित हुए हैं। झरनो के कलकल और पक्षियो के मनोहारी कलरव के समान ही मानव-कण्ठो से फूट निकले हुए ये कल-गान, गीतो, काव्य, और साहित्य की स्वाभाविकता को प्रमाणित करते हैं। हम तूलिका से चित्रपटो पर विभिन्न रग भरकर विचित्र चित्र बनाते हैं, पर विचित्र, किन्तु सहज रगो को लेकर नित्य, गुलाब, चम्पा, कचनार, बदूक, शेफाली आदि फूल भी खिलते हैं। जो इन दो प्रकार के रगो का सम्बन्ध है वह कृत्रिम और सहज काव्य का है। किसी की रोचकता और महत्व कम नही; वरन् दोनो मानव-जीवन के दो रूपो को स्पष्ट करते है। अत यह निर्विवाद सत्य है कि काव्य की रचना और काव्य का सेवन मानव-समाज के जीवन के लिए आवश्यक और स्वाभाविक क्रिया है।

हाँ, हम एक बात मान सकते है कि साहित्य का बहुत कुछ अश, विज्ञान, दर्शनशास्त्र आदि ने ले लिया है। इससे साहित्य का शुद्ध क्षेत्र सीमित रह गया है, साहित्यकार यदि तथ्य कहता है, तो वह विज्ञान की वस्तु है, शाश्वत् सत्य खोजता है तो यह दर्शन की वस्तु है, जीवन का उपयोगी मार्ग बताता है, तो शास्त्र की वस्तु है। यदि यह नही करता, तो उसका उपयोग क्या ? उत्तर यही हो सकता है, मनोरजन। किन्ही-किन्ही कोनो से हमे यह चेतावनी भी मिलती है कि उपदेश देना, कवि का काम नही, तथ्य निरूपण, कवि का काम नही, सत्य की खोज कवि का कर्तव्य नही। तो कवि का करणीय है क्या ? सहज उत्तर आता है, भावोद्बोधन, और उक्ति-चमत्कार द्वारा मनोरजन। इन चेतावनी देने वाले और उसकी प्रतिध्वनि के रूप मे सहज-प्राप्त उत्तर के शब्दों ने साहित्य का क्षेत्र सकुचित कर दिया है और साहित्यकार को भूल-भुलैया मे डाल दिया है। विभिन्न सीमाओ की ललकारो को साहित्यकार को अन्य क्षेत्रो मे खदेड कर, शुद्ध-साहित्य कहे जाने वाले क्षेत्र मे डाल रखा है। बस इसी से साहित्य के सामने इतनी समस्याएँ आ खडी हुई हैं।

पर यथार्थ मे यह भ्रान्त धारणा है। विज्ञान दर्शन और शास्त्रो के विस्तार ने साहित्य के सामने और भी विस्तृत, व्यापक और नवीन क्षेत्र खोल दिये है। साहित्य के लिए प्रतिबन्ध नही, किसी भी क्षेत्र मे जा सकता है, पर उसकी रचना अन्ततोगत्वा साहित्य होनी चाहिए, दर्शन, विज्ञान या शास्त्र नही।

जीवन की विविधता के सामने साहित्य विराट् है। उसकी सूक्ष्मता के समान साहित्य जटिल है और उसकी सुघरता के समान साहित्य सुन्दर है, पर उसकी कुरूपता के समान कुरूप नही। अत. साहित्य के प्रत्येक रूप पर विचार करने के साथ सुरुचि का सम्बन्ध आवश्यक है। सुरुचि के बिना साहित्य, साहित्य नही। साहित्य सदा ही सुन्दर और रमणीय है। अतः साहित्य का सुरुचि से अनिवार्य सम्बन्ध है साहित्य का सुरुचि सम्बन्ध होने के कारण ही, साहित्य सदा ही विकासशील है। यह हो सकता है किसी युग-विशेष का साहित्य, दूसरे युग के लिए उतना उपयोगी और रमणीय अथवा प्रगतिशील न रह जावे, पर अपने युग का साहित्य उस युग की सुरुचि

को ही लेकर चलता है, उसका अन्तिम लक्ष्य सुरुचि-सम्पादन ही है। युग के अनुसार वर्णन की मर्यादा और मान्यताएँ बदला करती हैं, इसीलिए कभी-कभी हम पिछले युगो के साहित्य मे अश्लीलता भी पाते हैं। अश्लीलता जो एक निषिद्ध वर्णन को अपने भीतर लिए रहती है, वह तो निश्चय ही कुरुचि-पूर्ण है और किसी भी युग मे समादृत नही हो सकती, पर इसके अतिरिक्त शिष्टता और सभ्यता की परिधि मे भी किसी युग मे कुछ ऐसी बाते आ जाती हैं, जो दूसरे युग की मर्यादा के विपरीत हो सकती है। उदाहरण के लिए स्त्री के अनेक अगो का वर्णन, सस्कृत और हिन्दी के काव्यो मे नखशिख के अन्तर्गत मिलता है जो आजकल मर्यादा-पूर्ण नही कहा जा सकता। अतः जनता की अभिरुचि के ऊपर युग के अनुकूल व्यवहृत साहित्यिक सुरुचि, बडा ही महत्वपूर्ण प्रभाव डालती है।

अब हमारे सामने मुख्य प्रश्न यह है कि हम जन-मन के भीतर साहित्यिक अभिरुचि कैसे जगावे ?

साहित्यिक अभिरुचि को जगाने का सबसे पहला उत्तरदायित्व कवि अथवा साहित्यकार पर है। साहित्यकार ऐसा साहित्य रचे जो जनता के भीतर की सुरुचि को उकसाकर, साहित्य के प्रति विद्यमान उदासीनता को दूर कर सके, और साहित्य-सेवन की बान डाल सके। साहित्य के प्रति हमारी एक ललक उत्पन्न हो जावे। यह तभी सम्भव है जब—

(१) साहित्यकार की जीवन और जगत के प्रति एक सुन्दर, ऊँची और स्वस्थ धारणा बनी हो।

(२) उसे जीवन और जगत का गहरा और यथातथ्य अनुभव हो।

(३) उसमे सत्य को सुन्दर रूप मे देखने की प्रतिभा और उसके प्रकाशन की क्षमता हो।

(४) उसके भाव सुलझे हुए, पूर्ण और रमणीय हो और

(५) भाषा, समर्थ, प्रांजल, स्पष्ट, शुद्ध और प्रयोग-बद्ध हो।

इन सब बातो को लेकर चलने वाला साहित्यकार, सफल होगा और अपने साहित्य के प्रति लोगो को बरबस खीचकर न केवल साहित्यिक अभिरुचि को

बढायेगा, वरन् वह सस्कृति, सभ्यता और मानवता का विकास करने में भी समर्थ हो सकेगा।

साहित्यिक अभिरुचि बढाने का दूसरा उत्तरदायित्व आलोचक पर है। साहित्यकार या कवि, पूर्ण रीति से सतर्क और सचेत होते हुए भी, सदा ही वाँछनीयता पर विचार नही कर सकता। अतः समालोचक का कर्तव्य है कि साहित्यकार द्वारा निर्मित साहित्य को निष्पक्ष रीति से कसौटी पर कसकर खरे-खोटे का स्पष्ट विवेचन करे। जब किसी साहित्य मे खरे समालोचक होते है, तब प्राय अच्छे लेखक पनपते हैं। समालोचक का कार्य बडा कठिन है। वह न्यायाधीश है। उसे यथार्थ समालोचना करनी है। कवि का बडप्पन और प्रसिद्धि उस पर बेजा प्रभाव नही डाल सकती और किसी कवि की अप्रसिद्धि भी उसकी कवित्व-प्रतिभा को मन्द नही कर सकती। जो रचना जैसी है, उसको ठीक वैसी ही बताना आलोचक का कार्य है, मित्रता या गुटबन्दी का व्यवहार निभाने वाले समालोचक साहित्य पर कुठाराघात करते हैं।

कवि और समालोचक दोनो के ठीक कार्य करने पर भी, व्यापक प्रभाव तब तक नही पड पाता जब तक पत्रकार सहायक न हो। कविता या अन्य साहित्यिक रचना का पहला स्वागत, पत्र ही करते है और पत्रकार ही पहला आलोचक भी है। साहित्य का सत्प्रचार और सत्समालोचना पत्रकार की सहायता से ही हो सकता है। पत्रकार को विवेकी, उत्साही, खोजी, उदात्त, मर्मज्ञ और विद्याविद् होना चाहिए, तभी वह साहित्यकार की रचना भी परख सकता है और समालोचना का भी आदर कर सकता है। आजकल दुर्भाग्य से सुयोग्य पत्रकार इने-गिने हैं, इसी कारण साहित्यिक अभिरुचि इतने निम्नांश पर झुकी हुई है। पत्रकार की योग्यता, लेखक और समालोचकों के पहचानने मे है। यह सूझ उसका बडा आवश्यक गुण है।

पत्रकार के समान ही हमारे प्रकाशको को भी गुणी और गुणग्राहक होना चाहिए। सत्कवियो और साहित्य-निर्माताओ को प्रोत्साहन देना उन्ही का कार्य है। उन्हे याद रखना चाहिए कि प्रकाशक होना केवल जीविकोपार्जन का व्यापार

ही नही, वरन् बडी ही उच्च और पवित्र देश, समाज और साहित्य सेवा भी है, जिसे न करने पर इन सब की दुर्दशा के वही उत्तरदायी होगे। यह ऐसी सेवा है कि परार्थ मे स्वार्थ-सिद्धि भी निहित है।

सबसे अन्तिम, पर अत्यन्त महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व हमारी सरकार का है। सरकार का कर्तव्य सत्साहित्य को प्रोत्साहन देना और उसके प्रचार, विस्तार और विकास का प्रबन्ध करना है। अब अपने स्वतत्र देश मे सभी का पहला कर्तव्य यह है कि शासक सत्यनिष्ठ, सद्वृत्त, न्यायी और देश, समाज एव जनता के उन्नायक हो, तथा जनता और देश भी ऐसे शासको के अनुकूल, न्याय-प्रिय, सस्कृत, समृद्ध और शिष्ट हो। शासक-मण्डल का जन-शिक्षा का कार्य अब आन्दोलन और गुटबन्दी से नही हो सकता। उसके लिये उसका सुगम मार्ग है, सत्साहित्य को प्रोत्साहित कर, उसका समुचित विकास एव प्रचार कर, जनता मे साहित्यिक अभिरुचि को उत्पन्न करना। उत्तम साहित्य के सेवन से जनता मे अपने आप विवेक, कर्तव्य-पालन और सत्य-न्याय की प्रवृत्ति जाग्रत होती है। साहित्य से बढकर शीघ्र और स्थायी प्रचार करने वाली दूसरी शक्ति नही। अतः हमारी सरकार का बहुत बडा उत्तरदायित्व साहित्यिक अभिरुचि के बढाने मे है। कवि, उनका प्रोत्साहन पाकर सच्चे मनोरम और उपयोगी साहित्य का सृजन कर सकेगे। समालोचक अपनी निष्पक्ष समालोचना तभी कर सकते हैं जब उसकी जनता और सरकार मे कदर हो सके। और पत्रकार भी अपनी सद्वृत्ति का प्रयोग अधिकारियो के सकेत अथवा सद्वृत्ति के बिना नही कर सकते हैं। अतः इस साहित्यिक अभिरुचि के हेतु सरकार का भी बडा उत्तरदायित्व है, जिसे वह जितनी शीघ्र समझे, उतनी ही शीघ्र जन-कल्याण और उच्च साहित्य की सृष्टि प्रारम्भ होगी।

आज हम साहित्यिक अभिरुचि के विकास की बात इसलिए कर रहे है कि स्वतंत्र होकर अब हमे अपने साहित्य को विश्व-साहित्य के समकक्ष रखना है; उसकी उच्चता और विशालता को निभाना है। यह सयोग की ही बात है कि हमारा प्राचीन साहित्य उच्च और महान् है, उसकी समता विश्व के इने-गिने साहित्य ही कर सकते हैं, पर हम अपने पूर्वजो के बलबूते पर आज की लडाई

तो नही जीत सकते । आज गौरव तो हमे अपने हाथो अर्जित करना है, अन्यथा हम महान् पूर्वजो की निकृष्ट सन्तान कहायेगे ।

अपनी सस्कृति और आदर्शो की महानता हम साहित्य द्वारा ही प्रकट कर सकते है । हम प्राचीन काल मे महान् थे इसे सिद्ध करने का हमें आज अवसर मिला है । इसे हम अपने कार्यो और विशेष रूप से साहित्य द्वारा सिद्ध करेगे । साहित्य का सम्पर्क अधिक दूर तक जाता है, कार्यों और व्यक्तित्व का सम्पर्क उतना स्वच्छन्द और व्यापक नही है । उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव के समीपवर्ती देश भी हमारे साहित्य को पढ सकते है और उसी के द्वारा हमारी जाति, सस्कृति और देश के आदर्शों को जान सकते हैं और यदि वे यथार्थ मे ऊँचे और सार्वभौम हैं, तो हमारे पथ के पथी भी हो सकते हैं ।

साहित्यकार को इतना बडा दायित्व सँभालना है अत आवश्यक है कि सभी उसकी सहायता करे । अकेले एक साहित्यकार ऊँचा हो सकता है, अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा से, पर यदि हमे युग के सभी कवियो और लेखको को उच्च और महान् बनाना है, तो हमारे भीतर साहित्यिक अभिरुचि का पूरा स्पन्दन होना चाहिये । हमारे भीतर साहित्य के लिए ललक हो, उसकी बारीकी हम समझ सके, उसके गुणो को ग्रहण कर सके और उसके दोषो को निर्दोष कर सके । जब ये गुण हमारे देश के जन-समूह मे आ जायेगे, तभी समझिये कि साहित्यिक अभिरुचि जाग्रत हुई है और हम विश्वासपूर्वक कह सकते है कि तभी हमारे साहित्यकारो की कृतियाँ विश्व भर में समादर और प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकेगी ।